इग्नू
जन–जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MHD - 11
हिन्दी कहानी

हिन्दी कहानी

इग्नू
जन जन का
विश्वविद्यालय

इन्दिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MHD-11
हिंदी कहानी

खंड

2

इकाई 5
बिरादरी : विश्लेषण और मूल्यांकन 5

इकाई 6
हंसा जाई अकेला : विश्लेषण और मूल्यांकन 17

इकाई 7
यही सच है : विश्लेषण और मूल्यांकन 31

इकाई 8
मलबे का मालिक : विश्लेषण और मूल्यांकन 45

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

प्रो. राजेन्द्र कुमार
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. ए. अरविन्दाक्षन
पूर्व समकुलपति
महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
वर्धा

प्रो. हरिमोहन शर्मा
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. गोपेश्वर सिंह
प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संकाय सदस्य

प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. सत्यकाम
प्रो. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव
(पाठ्यक्रम संयोजक)

पाठ्यक्रम संयोजक

डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, हिन्दी संकाय
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

खंड संयोजन, संशोधन एवं संपादन

डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, हिन्दी संकाय
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक	इकाई सं.
डॉ. नलिन रंजन सिंह हिन्दी विभाग, जे.एस.पी.जी. कालेज, लखनऊ	5
प्रो. कृष्णचन्द्र लाल अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, दी.द.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर	6-7
डॉ. अर्चना वर्मा अवकाश प्राप्त एसोसिएट प्रोफेसर हिन्दी विभाग, मिरांडा हाउस, दिल्ली	8

विशेष सहयोग : डॉ. नमिता सत्येन
डॉ. वावळकर शिवदत्ता बाजीराव
सुश्री भावना सरोहा

सचिवालयिक सहयोग : सुश्री हेमलता

सामग्री निर्माण

श्री सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)

मई, 2016

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2016

ISBN-978-93-86100-39-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सुनैना कुमार, निदेशक, मानविकी विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

Paper Used : "Agro based Environment Friendly"

लेजर टाइप सेटिंग : एच. डी. कंम्यूटर क्रॉफ्ट, डब्लु जैड 36ए, लाजवंती गार्डन, नई दिल्ली 110046

मुद्रक : अमेटी ऑफसेट प्रिटंर्स, 12/38, साइट - IV, साहिबाबाद, इन्डस्ट्रियल एरिया, गाजियाबाद,(उ,प्र,)

खण्ड-2 परिचय

यह कहानी संबंधी माड्यूलर के तीसरे पाठ्यक्रम 'हिन्दी कहानी' का दूसरा खण्ड है। इस खण्ड में कुल चार इकाइयाँ हैं जो इस प्रकार हैं—

इकाई - 5 'बिरादरी' : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई - 6 'हंसा जाई अकेला' : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई - 7 'यही सच है' : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई - 8 'मलबे का मालिक' : विश्लेषण और मूल्यांकन

इस खण्ड में बिरादरी (शानी), हंसा जाई अकेला (मार्कण्डेय), यही सच है (मन्नू भंडारी), मलबे का मालिक (मोहन राकेश) जैसी अत्यंत महत्वपूर्ण कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड को पढ़ने के पश्चात आप शानी, मार्कण्डेय, मन्नू भंडारी, और मोहन राकेश जैसे महत्वपूर्ण कहानीकारों की कहानीकला से भी परिचित होंगे/होंगी। इन इकाइयों में मुस्लिम जीवन, ग्रामीण जीवन, स्त्री स्वतंत्रता, प्रेम और देश विभाजन की त्रासदी का अध्ययन करेंगी/करेंगे।

हमें विश्वास है, इस खंड के अध्ययन के पश्चात आप हिन्दी कहानी के विस्तृत परिसर से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी। इस खण्ड में शामिल कहानियाँ इन लेखकों की सर्वकालिक महान कहानियाँ हैं। 'मलबे का मालिक' जैसी कहानी पढ़ते हुए विभाजन की व्यर्थता का गहरा बोध होता है। इसी प्रकार अन्य कहानियों को पढ़ते हुए पाठक के मन और विवेक पर उनका गहरा असर पड़ता है।

इस खण्ड को पढ़ते हुए आप इसमें शामिल कहानीकारों के रचना संसार का भी संक्षिप्त परिचय पा सकेंगी/सकेंगे। इन कहानियों के विश्लेषण से गुजरते हुए आप देखेंगे/देखेंगी कि किसी कहानी की श्रेष्ठता के निर्धारण में उसकी कथावस्तु के साथ-साथ उसके रूप पक्ष का भी बड़ा योगदान होता है। इस पाठ्यक्रम के तीसरे खण्ड में भी आप चार कहानियों का अध्ययन करेंगी/करेंगे।

शुभकामनाओं सहित।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 5 बिरादरी : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्‌देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 लेखक का परिचय

5.3 शानी की कहानियाँ : कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु

5.4 बिरादरी : कथानक

5.5 बिरादरी : विश्लेषण-मूल्यांकन

5.6 भाषा-शैली

5.7 सारांश

5.8 अभ्यास

5.0 उद्‌देश्य

यह एम.ए. हिन्दी के द्वितीय वर्ष के कहानी से सम्बन्धित माड्‌यूल के पाठ्‌यक्रम 'हिन्दी कहानी' की पाँचवीं इकाई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप नई कहानी आंदोलन के एक महत्वपूर्ण कहानीकार के रूप में शानी की कहानियों से परिचय प्राप्त करेंगे। इनकी एक विशिष्ट कहानी 'बिरादरी' पाठ हेतु आपके सामने है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- शानी की कहानियों से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी।
- शानी की कहानियों में आए कुछ ख़ास संदर्भों को जान सकेंगे/सकेंगी।
- 'बिरादरी' कहानी के माध्यम से विभाजन के बाद भारतीय मुस्लिम समाज के मनोभावों की पड़ताल कर सकेंगे/सकेंगी।
- 'बिरादरी' कहानी के आधार पर शानी की विशिष्ट शैली से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी।

5.1 प्रस्तावना

शानी की कहानियों का पहला संग्रह 'बबूल की छाँव' सन् 1958 में प्रकाशित हुआ था। तब तक स्वाधीनता के बाद दो आम चुनाव हो चुके थे। आजादी के लिए होने वाले संघर्ष को देखते हुए वे बड़े हुए थे। इसलिए आजाद हिन्दुस्तान में उनकी उम्मीदें जनता की उम्मीदों से मिलती-जुलती थीं। लेकिन उम्मीदें पूरी नहीं हो पा रही थीं। विकास की गति बहुत धीमी थी। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के बावजूद तमाम रुढ़िवादी और सामंती मान्यताएँ बनी हुई थीं। साम्प्रदायिक संदर्भ भी बने हुए थे। आज़ादी के बाद भी मुस्लिम समाज तमाम परेशानियों से जूझ रहा था। शानी ने इन सारे संदर्भों को जाना-समझा और उन्हें केन्द्र में रखकर कहानियाँ लिखीं। नयी कहानी के दौर के लेखक होते हुए भी वे अपनी कहानियों में कुछ अलग संदर्भ उठाते हैं। आम इन्सान को उसकी पहचान के साथ जीने की वकालत करने वाले कहानीकार शानी धर्म और भाषा के आधार पर होने वाले किसी भी विभेद को नकारते हैं। स्वाभाविक है कि वे मण्टो, यशपाल, भीष्म साहनी और मोहन राकेश की परम्परा के कथाकार माने जा सकते हैं।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

5.2 लेखक का परिचय

शानी का जन्म 16 मई, 1933 को जगदलपुर (म.प्र.) में हुआ था। इनका पूरा नाम गुलशेर खान शानी है। शिक्षा पूरी करने के बाद इन्होंने सालों तक मध्यप्रदेश शासन के अन्तर्गत कार्य किया। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद्, भोपाल के सचिव पद पर रहे और 'साक्षात्कार' पत्रिका के संस्थापक-संपादक रहे। उसके बाद दिल्ली आने पर नवभारत टाइम्स में सहायक सम्पादक बने। शानी साहित्य अकादमी, नई दिल्ली से भी सम्बद्ध रहे। साहित्य अकादमी से प्रकाशित महत्वपूर्ण पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' के संस्थापक-संपादक के रूप में ख्याति प्राप्त की और समकालीन लेखकों में विशेष रूप से समादृत हुए। शानी की प्रकाशित पुस्तकें इस प्रकार हैं :- 'साँप और सीढ़ी', 'फूल तोड़ना मना है', 'एक लड़की की डायरी', 'काला जल' (उपन्यास); 'बबूल की छाँव', 'डाली नहीं फूलती', 'छोटे घेरे का विद्रोह', 'एक से मकानों का नगर', 'युद्ध', 'शर्त का क्या हुआ?', 'बिरादरी', 'सड़क पार करते हुए' (कहानी संग्रह) तथा 'शालवानों का द्वीप' (संस्मरण)।

शानी की रचनाओं का अनुवाद अनेक भारतीय भाषाओं में हुआ है। रूसी तथा लिथुवानी भाषाओं में भी रचनाएँ अनूदित हैं। राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से शानी की महत्वपूर्ण तेरह कहानियाँ 'प्रतिनिधि कहानियाँ' के रूप में प्रकाशित हैं। वैसे शानी की संकलित कहानियाँ 'सब एक जगह' शीर्षक के अन्तर्गत दो भागों में 1982 में प्रकाशित हो चुकी हैं।

5.3 शानी की कहानियाँ : कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु

शानी कालक्रम की दृष्टि से नई कहानी आन्दोलन के कहानीकार हैं। हिन्दी कहानी के लिए यह महत्वपूर्ण समय था। इस आन्दोलन ने हिन्दी साहित्य जगत को अविस्मरणीय कहानियाँ दीं और बेहद प्रतिभाशाली कहानीकार भी। निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, अमरकान्त, फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, शिवप्रसाद सिंह, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, भीष्म साहनी, हरिशंकर परसाई, रघुवीर सहाय, शानी आदि कहानीकार इस दौर के महत्वपूर्ण कहानीकार हैं और हिन्दी कहानी साहित्य की उपलब्धि भी। इनमें से निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश को शहरी पृष्ठभूमि और अमरकान्त, रेणु, मार्कण्डेय एवं शेखर जोशी को ग्रामीण पृष्ठभूमि पर कहानियाँ लिखने में महारत हासिल थी। मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा और कृष्णा सोबती महिला सन्दर्भों को लेकर आगे बढ़ रही थीं। हरिशंकर परसाई की कहानियों में व्यंग्य की छटा निराली थी। भीष्म साहनी और मोहन राकेश विभाजन की त्रासदी पर भी लिख रहे थे और यशपाल की परम्परा को आगे बढ़ा रहे थे। मध्यवर्गीय और आंचलिक सन्दर्भ कहानी में अपनी जगह बना चुके थे। स्पष्टतः नई कहानी में कथ्य, संवेदना और संरचना तीनों स्तरों पर परिवर्तन हो रहा था।

इसी समय कहानी की दुनिया में एक नाम तेजी से उभर रहा था, शानी। जब उनका पहला संग्रह प्रकाशित हुआ (1958), तब शानी मध्य प्रदेश के आदिवासी इलाके में रहते थे। यद्यपि इस वजह से वे तमाम हलचलों से कटे हुए थे किन्तु आंचलिक सन्दर्भ उनसे जुड़े हुए थे। यही वह समय था जब रेणु का 'मैला आँचल' भी प्रकाशित हुआ था। शानी आंचलिक सन्दर्भों से जुड़कर भी उनमें डूबे नहीं। कहानियों का भौगोलिक क्षेत्र तो बस्तर का आदिवासी क्षेत्र ही है किन्तु उनके चरित्र निम्न मध्यवर्गीय परिवेश के हैं। शानी अपने आस-पास के समय और समाज से पूरी तरह जुड़े रहे, इसलिए उन्हें अपने पात्रों की खोज

में भटकना नहीं पड़ा। 'बबूल की छाँव' की भूमिका में वे लिखते हैं- 'इन कहानियों के लिए मैं अधिक दूर नहीं गया हूँ, अपने आस-पास के वातावरण को ही चित्रित किया है।'

शानी की कहानियों में स्त्री सन्दर्भ भी प्रमुखता से उभरते हैं। उनकी एक महत्वपूर्ण कहानी का शीर्षक ही है- 'परस्त्रीगमन।' शानी अपनी कहानियों में स्त्री को उसके पूरे सामाजिक सन्दर्भ में देखने के पक्षधर हैं। 'बबूल की छाँव', 'नारी और प्यार', 'पहाड़ और ढलान', स्त्री सन्दर्भों की महत्वपूर्ण आरम्भिक कहानियाँ हैं। इस कड़ी में वे मुस्लिम स्त्रियों को लेकर जो चरित्र बुनते हैं उन चरित्रों की स्त्रियाँ बेहद अलग किस्म की नज़र आती हैं।

उनकी अपनी विसंगतियाँ यहाँ खुलकर सामने आई हैं। 'जनाजे का फूल' की आयशा, 'जिन्दगी जलती है' की सलमा, 'छल' की नाजो, 'एक सन्धि और' की ताहिरा, 'एक काली लड़की' की मेहरुन, 'सीढियाँ' की रेहाना और 'नंगे' की रुबीना अपने सामाजिक परिवेश के अन्तर्विरोधों से जूझती रहती हैं और उस संघर्ष में बार-बार हारते हुए बेबसी और छटपटाहट की जिन्दगी जीने को अभिशप्त हैं।

शानी का स्वयं मानना है कि "यह महज़ एक संयोग नहीं है कि कुछ कहानियों को छोड़कर मेरी अधिकांश कहानियाँ विभाजन के बाद के भारतीय मुस्लिम समाज के भय, तकलीफों, भीतरी अन्तर्विरोधों, यंत्रणाओं और असंगतियों की कहानियाँ हैं .... मैं इसी दिशा में बेहतर रचना करना पसन्द करूँगा.......... मैं बहुत गहरे में मुतमईन हूँ कि ईमानदार सृजन के लिए एक लेखक को अपने कथानक अपने आसपास से और खुद अपने वर्ग से उठना चाहिए........"

शानी का संकेत यहाँ कुछ इस ओर है कि वह स्वयं और उन जैसे रचनाकार- अपनी तमाम आधुनिकता के बावजूद-परिवार, समाज, धर्म और इतिहास के दाय को ग्रहण करते हैं और जो कि उनमें बहुत गहरी जड़ें जमाए हुए हैं। मौजूदा सन्दर्भ में सचेतरूप से, यह दाय उन्हें संकट में डालता है और अनजाने में, उनके जीवन को नियंत्रित करता है। (लोठार लुत्से, प्रतिनिधि कहानियाँ)

शानी बेहद साधारण से लगने वाले पात्रों को लेकर महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े करते हैं। इस दृष्टिकोण से देखें तो 'जली हुई रस्सी', 'नंगे', 'एक नाव के यात्री', 'पत्थरों का तालाब', 'बीच के लोग', 'जगह दो, रहमत के फरिशते आएँगे', 'युद्ध', 'इमारत गिराने वाले' और 'बिरादरी' कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं। 'जली हुई रस्सी' का वाहिद रिश्वत लेने के आरोप में नौकरी से हाथ धो बैठता है और वह समाज जो पैसे रहते समय उसे बहुत अहमियत देता था, वही समाज उसे आर्थिक तंगी के दिनों में उपेक्षित करता है। अर्थ की प्रधानता को सम्मान देने वाली दुनिया में पैसे की कीमत को शानी ने बखूबी दर्शाया है। उस पर भी वाहिद की ऐंठ नहीं जाती। 'रस्सी जल गई लेकिन ऐंठन नहीं गई' मुहावरे को लेकर कहानी की बुनावट में वाहिद का चरित्र फिट बैठता है। 'नंगे' भी आर्थिक विपन्नता में जी रहे एक परिवार की कहानी है। 'ईद' खुशियों का त्यौहार है, परन्तु विपन्न परिवार के लिए त्यौहार भी बोझ बन जाता हैं। बदले हुए परिवेश में रिश्ते आर्थिक स्तर पर सिमट कर रह गए हैं। 'ईदी' के डर से दिन में भी कमरा बन्द करके सोने का बहाना करना पड़ता है। भाई-बहन के रिश्तों के बीच 'ईदी' देने का डर बड़ा हो जाता है। मसूद के छोटे बच्चे को भी 'ईदी' देने के डर से हाथ में लेने से 'मैं' पात्र डरता है। बदले में वापसी में न मसूद की दुल्हन का सलाम आता है और न उसके बेटे का आदाब। शानी कहानी को कुछ यों समाप्त करते हैं- 'देर तक जमीन पर बैठे रहने के कारण कुरते में जगह-बेजगह सिलवटें आ गई थीं। खींच-तानकर उन्हें ठीक करते हुए मैं चलने की तैयारी करने लगा, पर

लज्जा के मारे पाँव ही नहीं उठ रहे थे। लग रहा था जैसे मेरे शरीर पर भरे-पूरे कपड़े नहीं, सिर्फ एक उठंग-सी कमीज पड़ी है। फूफी और मसूद की दुल्हन के सामने अपने को जैसे-तैसे ढँकने के लिए कमीज के पल्ले खींचता हूँ, पर पेट ढँकता है तो पीठ खुल जाती है......'

'एक नाव के यात्री' में शानी सम्बन्धों की टूटन से बिखरते जा रहे परिवार का चित्र खींचते हैं। परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व में आर्थिक समृद्धि की आकांक्षाओं और आधुनिकता के दिखावे से भर रही युवा पीढ़ी अपने ही माँ-बाप-बहन को संवेदना के स्तर पर छल रही है, इसे 'एक नाव के यात्री' में शानी बखूबी दर्शाते हैं। कहानी में 'मिसेज मित्तल' के बहाने वे पति-पत्नी सम्बन्धों में भी अलगाव को उभारने में सफल हुए हैं। आधुनिकता के नाम पर संवेदना के ह्रास पर शानी चिन्तित दिखते हैं। वे सम्बन्धों में अपनेपन को, प्यार को और परिवार की एकता को बनाए रखने के पक्षधर हैं। इसीलिए 'मिसेज मित्तल' अपने पति के पास लौटती दिखती हैं और तमाम उपेक्षाओं के बाद भी अंधे पिता और माता का प्यार अपने बच्चे के प्रति कम नहीं होता। नई कहानी और उसके बाद के दौर की कहानियों में भी सम्बन्धों के टूटन और अलगाव (एलिएशन) की कई कहानियाँ मिलती हैं। 'एक नाव के यात्री' कहानी के माध्यम से शानी तत्कालीन कहानी विधा की इस प्रवृत्ति को और मजबूत करते हैं और उनकी यह कहानी सामयिक जग-रीति का प्रतिबिम्ब बन जाती है। यही नहीं कहानी में प्रतीक्षा और मोह-भंग के स्वर भी हैं जो नई कहानी आन्दोलन के मूल स्वर हैं।

'पत्थरों का तालाब' सामाजिक विसंगतियों के साथ हमारे समय की राजनीति पर एक तीखी टिप्पणी है। नेता, पुलिस, पत्रकार और उद्योगपति के गठजोड़ को यह कहानी सशक्त तरीके से व्यक्त करती है। लोकतांत्रिक संस्थाओं में घुस आए भ्रष्टाचार और नैतिक पतन को दिखाने में शानी ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। जिस चारित्रिक पतन से 'मैं' पात्र गुजरा है उसे छुपाते हुए समाज का इज्ज़तदार आदमी बना रहता है और उस औरत को मुहल्ले से बाहर निकाल के ही दम लेता है जिससे उसकी पोल न खुल जाए। पितृसत्तात्मक समाज में हर क्षेत्र में औरत 'देह' बनकर रह गई है और राजनीति के क्षेत्र में तो यह घिनौनी हरकत कुछ ज्यादा ही नज़र आती है। राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अब सब कुछ जायज है। कहानी के अंत में 'मैं' पात्र से उसकी पत्नी 'मिसेज व्यास' के बातचीत के अंश देखिए-

"मिस मल्होत्रा को भी अपने साथ ले गई थीं?"

"न ले गई होती, तो अच्छा था। भोज जी का ध्यान मुझ पर थोड़े ही था। बातें मुझसे कर रहे थे, लेकिन चिपके जा रहे थे मिस मल्होत्रा से। मैं तो अब इस नतीजे पर पहुँची हूँ कि बड़े-से-बड़ा आदमी भी जवान और खूबसूरत औरत के सामने कुत्ता हो जाता है- जीभ उतारकर लार टपकाता हुआ कुत्ता।"..................

"आपको याद है, पहले जब मैं मिस वर्मा को अपने साथ ले जाया करती थी, तब भी दो-एक बार ऐसे ही तजुरबे हुए थे। आप अन्दाजा नहीं लगा सकते कि किसी औरत के लिए यह कितना अपमानजनक होता है।"

कई पल रुकने के बाद साँस भरकर वह बोलीं, "कभी-कभी सोचती हूँ कि हम लोग उधार के हथियार से आखिर कब तक लड़ते रहेंगे। लेकिन मैं क्या करूँ, ईश्वर ने मुझे न तो रूप दिया है, और न अब शरीर ही ऐसा रह गया है कि........"

शानी की एक और कहानी बहुत ही महत्वपूर्ण है जिससे उनकी दृष्टि का विस्तार समझ में आता है। कहानी है- 'बीच के लोग।' शम्मी आपा के पति भारत-पाक विभाजन के बाद पाकिस्तान चले जाते हैं और शम्मी आपा भारत में ही रह जाती हैं। सम्बन्धों के स्तर पर कुछ भी बचता नहीं। लोगों के कहने पर शम्मी पाकिस्तान जाने को तैयार भी होती हैं लेकिन ऐन वक्त पर पता लगता है कि उनके पति ने पाकिस्तान में दूसरी शादी कर ली है। शम्मी अपना फैसला बदल देती हैं और अपने बेटे नम्मू के साथ भारत में ही रह जाती हैं। कुछ दिनों बाद पता चलता है कि उनके पति अब इस दुनिया में नहीं रहे। यह खबर उसी समय आती है जब नम्मू की शादी की रस्में चल रही होती हैं। लोगों को लगता है कि शम्मी इससे घबराएँगी, लेकिन ऐसा नहीं होता। वे कहती हैं- 'जिसे आधी जिन्दगी नहीं देखा और जिसके लौटने की उम्मीद न हो, उसका मेरे लिए मरना-न-मरना क्या?" इन्ही हालातों में चालीस वर्षीया शम्मी के जीवन में एक व्यक्ति आता है - नारमा हाफिज जो विधुर है, अकेला है और शम्मी से निकाह करना चाहता है। वह हर रोज़ उनकी खिड़की के पास आता और चला जाता। लोग उसे पागल समझते। शम्मी भी यही कहतीं और मानतीं कि शायद बीच के लोगों का यही हाल हो जाता हो। धीरे-धीरे नारमा हाफिज का खिड़की के पास आना बंद हो गया लेकिन नम्मू से उनके झगड़े बढ़ गए। फिर एक दिन नम्मू 'मैं' पात्र को रात में कुछ दिखाने के लिए ले गया जिससे पता चल सके कि शम्मी और उसके झगड़े में वह दोषी नहीं है। फिर उसने जो दिखाया उस पर यकीन करना मुश्किल था क्योंकि नारमा हाफिज की दहलीज से इतनी रात गए शम्मी आपा उतर रही थीं।

यह कहानी कई बिन्दुओं को उठाती है। पहला तो यह कि भारत-पाक विभाजन की त्रासदी ने मुस्लिम परिवारों को सालों तक दुःख दिए। दूसरा यह कि इस त्रासदी को औरतों और बच्चों ने सबसे ज्यादा झेला। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु है चालीस वर्षीया शम्मी आपा का नारमा हाफिज से जुड़ जाना। वास्तव में शम्मी सुहागन बेवा का जीवन जीने को अभिशप्त रहीं। बाद में सुहागन शब्द का नाता भी टूट गया। नम्मू अपनी बीवी और नौकरी में व्यस्त रहने लगा। फिर उनकी जिन्दगी में बचा क्या? लम्बी तनहाई और अतृप्ति सारे बंध तोड़ देती है और वे नारमा हाफिज से जुड़ जाती हैं। कहानी के माध्यम से शानी अतृप्त, झूठे और अपर्याप्त सम्बन्धों की जगह प्रेम की पूर्णता वाले सम्बन्ध पर जोर देते हैं। इस मामले में वे बतौर कहानीकार शम्मी आपा के साथ खड़े हैं और उम्र के हर पड़ाव पर साथ और प्यार की जरूरत को रेखांकित करते हैं।

एक और कहानी अपने अलग मिजाज के कारण चर्चा के योग्य है। कहानी है- 'जगह दो, रहमत के फरिश्ते आएँगे।' कहानी में दस बरस की सूफिया के मन में दादी जान की बात बसी हुई है कि जिस घर में कुत्ते होते हैं, वहाँ रहमत के फरिश्ते नहीं आते। लेकिन पप्पू मियाँ हैं कि उन्हें कुत्ता ही पालना है। छोटे बच्चे की जिद के आगे पापा लाचार हो जाते हैं और पड़ोस से लाई गयी पिल्ली ब्राउनी को घर में जगह दे देते हैं। कुछ दिनों बाद ब्राउनी को खुजली की बीमारी हो जाती है जिससे उसे अस्पताल ले जाना पड़ता है। अस्पताल में दो आदमी मिलते हैं जो कहते हैं कि 'जब यह अल्सेशियन नहीं तो क्यों परेशान होते हैं। वैसे भी यह अब आपके किस काम का।' पापा ब्राउनी को वहीं छोड़कर लौट आते हैं और उससे पिण्ड छुड़ा लेते हैं। घर लौटने पर पप्पू मियाँ ब्राउनी की याद में रोने लगते हैं तो पापा उन्हें लेकर फिर अस्पताल जाते हैं। लेकिन वहाँ न ब्राउनी मिलती है और न वे दोनों आदमी। पप्पू मियाँ कहते हैं- ठीक ही हुआ न, पापा। वह अल्सेशियन तो थी नहीं और वैसे भी अपने किस काम की! नाहक परेशान होते।

पढ़ने में यह बहुत साधारण सी कहानी लगती है लेकिन 'कहानी छोटे मुँह बड़ी बात करती है।' शानी के प्राणिमात्र के प्रति स्नेह और बाल मनोविज्ञान की परख की बानगी इस कहानी के माध्यम से देखी जा सकती है।

'इमारत गिराने वाले' नवधनाढ्य वर्ग पर एक महत्वपूर्ण टिप्पणी है। यह वर्ग आजादी के बाद तेजी से उभरा है। अकूत कमाई से आई आर्थिक सम्पन्नता बाढ़ के पानी की तरह बहकर दूसरों की दाम्पत्य-मर्यादा को पुरानी इमारत की तरह ढहाती है। मर्यादाहीन और पतित कर्म करते हुए पत्नी का सौदा करने वाला व्यक्ति भी धन की चकाचौंध में मुस्कुराता है। किन्तु इमारत के आसानी से गिर जाने पर उसे स्वयं धक्का लगता है जो इमारत को गिराने का धंधा करता है वही इतनी जल्दी सब कुछ हो जाने के लिए मानसिक रूप से तैयार नहीं था।

शानी ने पहले भारत-पाक युद्ध (1965) के निजी अनुभवों को इस प्रकार व्यक्त किया है–

"मेरी ट्रेजडी यह थी कि युद्ध ने मुझे खामोश और उदास कर रखा था, न तो मेरे मन में तमाशबीनों- जैसा जोश और उत्साह था और न युद्ध में रस लेनेवाली मुखरता। अगर यह सब न होता और मेरी जेब में उफनती हुई राष्ट्रीयता और देश-प्रेम का झुनझुना होता तो काफ़ी होता, लेकिन बदकिस्मती, वह भी नहीं था। अगर आप भारतीय मुसलमान हैं और चाहते हैं कि आपकी बुनियादी ईमानदारी पर शक न किया जाए तो यह झुनझुना बहुत जरूरी है। मैंने देखा कि इसका असर आपके हिन्दू दोस्तों के कानों पर नहीं उनकी जुबान पर होता है। (शानी : सब एक जगह, 1982, आत्मकथा, पृ. 8)

इन अनुभवों को उनकी कहानी 'युद्ध' में देखा जा सकता है। 'युद्ध' में भय है तो विषाद भी है। ऐसे अवसरों पर मुसलमानों के लिए राष्ट्रभक्ति की मुनादी जरूरी हो जाती है। जो मुनादी नहीं पीटता वह पाकिस्तानी जासूस करार दिया जाता है। ऐसे में रिजवी का बेटा अप्पू अपने मासूम सवालों से सबको निरूत्तर कर देता है। शंकर दत्त और रिजवी से किये गये सवाल लड़ाई, सैनिक, देश, हिन्दू, मुसलमान से होते हुए अल्ला मियाँ और भगवान तक पहुँचते हैं और युद्ध की निस्सारता को पाठक के सामने व्यक्त कर देते हैं। कहानी का समापन भी ख़ास है– 'दालान में टँगे आईने पर बैठी एक गौरैया हमेशा की तरह अपनी परछाईं पर चोंच मार रही थी।'

इन कहानियों की संक्षिप्त चर्चा से आप समझ गए होंगे कि शानी किस तरह विभाजन के बाद के मुस्लिम समाज के गहरे अर्थ स्तरों को उद्घाटित करने वाले महत्वपूर्ण कहानीकार हैं, और यह भी कि वे अपनी कहानियों में समय-सन्दर्भों को उठाने से नहीं चूकते। आइए अब हम उनकी एक बेहद महत्वपूर्ण कहानी 'बिरादरी' की पाठ-प्रक्रिया से जुड़ें।

5.4 बिरादरी : कथानक

'बिरादरी' कहानी का आरम्भ दस-बारह साल की उम्र के एक लड़के साबिर की पिटाई के दृश्य से होता है। इतना छोटा लड़का लात, घूँसों और थप्पड़ों से पिट रहा था। सात-आठ लोग तमाशा देख रहे थे तो सात-आठ लोग ऐसे भी थे जो अपनी-अपनी जबानों से भी उसे पीटने में लगे थे। ऐसे में 'मैं' पात्र वहाँ पहुँचता है और त्रिपाठी के मारते हुए हाथ को पकड़ कर पूछता है- 'क्या हो गया भाई!' 'चोरी', किसी ने कहा 'साला, चोरी कर रहा था और क्या!' उधर लड़का चिल्लाए जा रहा था, 'मैंने चोरी नहीं की साब! अल्ला

कसम, मैंने किसी चीज को हाथ नहीं लगाया, अल्ला क़सम, कुछ भी नहीं लिया। मैं नहाने गया था।' त्रिपाठी और मारना चाहता था लेकिन 'मैं' पात्र उसको रोकता है और कहता है कि 'आखिर समझने तो दो कि हुआ क्या।' फिर सारा किस्सा पता लगता है।

दरअसल त्रिपाठी के एक सहकर्मी, पड़ोसी और मित्र छुट्टियाँ मनाने कश्मीर गए हुए थे। चूँकि टी.टी. नगर में दिन दहाड़े चोरियाँ आम बात थीं लिहाजा उन्होंने घर की चाबियाँ त्रिपाठी को दे दी थीं। पहली रात त्रिपाठी वहाँ सोया था और अपनी अंगूठी वहीं भूल गया था। घर पर शेव करते वक्त उसे याद आया कि अंगूठी तो वह भूल आया है। उसी अंगूठी को लेने जब वह लौटा तो देखा कि अंगूठी स्टूल पर नहीं थी बल्कि नीचे पड़ी हुई थी और एक लड़का त्रिपाठी को देखकर गुसलखाने के पीछे दुबक रहा था।

'मैं' पात्र को भी इस पर गुस्सा आता है। वह लड़के को डपटता है और आइंदा ऐसी हरकत न करने की चेतावनी देते हुए उसे डाँटकर भगा देता है। इस पर भीड़ में तीखी प्रतिक्रिया होती है। लोग मानते हैं कि यह तो उस लड़के को शह देना हुआ। सबको लगता है कि उनके घरों में जो भी चोरियाँ हुई हैं, सब उसी लड़के की देन हैं। फिर तो बर्मन, भट्ट, चौधरी- मुहल्ले के मौजूद हर आदमी ने उसे चोरी करते हुए देखा है, ऐसी घोषणा करनी शुरू कर दी। किसी की लकड़ियाँ, किसी की साड़ी, किसी का बल्ब चुराने वाला उन्हें मिल गया था। उसे पुलिस को सौंपने पर भी एक राय न बन सकी क्योंकि वह नाबालिग था। अन्त में भट्ट ने फार्मूला सुझाया कि उस शाख को ही काट फेंको जिस पर यह उल्लू बसेरा करता है। उसने राय दी कि वह झुग्गी ही क्यों न हटवा दी जाय जिसमें यह रहता है। हालाँकि इस बात पर लोग किसी नतीजे पर नहीं पहुँचे और अपने-अपने घरों को लौट गए क्योंकि सबको दफ्तर जाने की जल्दी थी। त्रिपाठी और 'मैं' पात्र भी घर लौट आए और लड़के को लेकर बातचीत करते रहे लेकिन पुलिस को फोन नहीं किया। पता चला कि लड़के की माँ सिद्दीकी साहब के यहाँ काम करती है। उसका मियाँ विधान सभा में चपरासी था जो एक दिन अचानक मर गया था। मासूम बच्चों को लेकर वह कहाँ जाती, इसलिए सिद्दीकी साहब ने उसे काम पर लगा लिया था और उन्हीं की मदद से उसने झुग्गी भी बना रखी थी।

बातचीत के बीच ही पता चलता है कि साबिर की माँ त्रिपाठी से मिलने आई है। त्रिपाठी कहता है, 'देख ली अपने लौंडे की करतूत!' इस पर वह स्पष्ट करती है कि 'साबिर बता रहा है कि वह नहाने गया था।' त्रिपाठी को लगा कि उसे झूठा बनाया जा रहा है। वह चीखने-चिल्लाने लगा। इसी बीच 'मैं' पात्र लड़के के बारे में पूछता है कि 'वह क्या करता है?' साबिर की माँ बताती है कि वह एक दुकान में दो रुपये रोज की मजदूरी पर सुबह नौ बजे से शाम सात बजे तक साड़ियों पर कढ़ाई का काम करता है। 'मैं' पात्र को याद आता है कि लड़का हुनरमंद है क्योंकि एक दफा वह लड़का उसके पास साड़ियाँ लेकर जा चुका था। साबिर की माँ भी कहती है कि 'अल्लाह ने उसके हाथ में हुनर तो दिया है लेकिन कोई वसीला नहीं दिया।' इस पर त्रिपाठी कहता है कि 'पहले वह अपनी आदत तो सुधारे। मैं उसे अच्छी जगह काम दिला दूँगा। दो के बदले दस मिलने लगेंगे। कौन सी बड़ी बात है?' त्रिपाठी की इस बात को साबिर की माँ ने पकड़ लिया। फिर क्या था, माँ-बेटे त्रिपाठी और 'मैं' पात्र के घरों पर चक्कर लगाना शुरू कर दिए। उधर साबिर की माँ की परेशानी बढ़ने लगी थी। उसने 'मैं' पात्र को बताया कि मुहल्ले वाले उसकी झुग्गी हटाना चाहते हैं। मुहल्ले वाले 'मैं' पात्र से साबिर वाली घटना के दिन से चिढ़े थे। उन्हें लगा था कि मियाँ ने छोकरे को तरकीब से भगवा दिया क्योंकि दोनों एक ही बिरादरी के हैं। यहाँ तक कि झुग्गी हटाने के लिए जो दरख्वास्त दी गई थी उस पर दस्तखत कराने के लिए भट्ट 'मैं' पात्र के पास नहीं गया था। साबिर की माँ 'मैं' पात्र के पास

आई थी और कहा था कि "सिद्दीकी साहब दौरे पर गए हैं। अब अपनी बिरादरी के होकर आप भी मेरे लिए कुछ न करें तो ......" बिरादरी की बात सुनकर 'मैं' पात्र झल्ला गया था।

त्रिपाठी और 'मैं' पात्र ड्राइंग रूम में बैठकर आम चुनाव की बातें करते हैं। बीच में एक हिन्दू और एक मुस्लिम प्रत्याशी के प्रचार वाहन अपने-अपने प्रत्याशी का प्रचार करते गुजरते हैं। ऐसे ही माहौल में 'मैं' पात्र को पता चलता है कि साबिर की माँ उससे मिलने आई है। वह रोये जा रही है और कुछ बताने के बजाय बस इतना कह रही है कि मियाँ से मिलवा दो। वह सुबह भी आई थी, तब 'मैं' पात्र ने उसको टालते हुए कहा था कि 'देखेंगे'। शाम को जब वह पुनः आ गई तो मैं पात्र बगले झाँकने लगा। पीने-खाने के माहौल में उसने अपनी बीवी से कहा कि 'टालो उसे यहाँ से।' गिलास में घूँट लेते हुए भी उसके कान बाहर लगे हुए थे। वहाँ उसकी बीवी कह रही थी, "साबिर की अम्मा, तुम सुबह मिल लेना। अभी तो वो सो रहे हैं।" कहानी यहीं समाप्त हो जाती है।

5.5 बिरादरी : विश्लेषण-मूल्यांकन

'बिरादरी' कहानी की कथा वस्तु से स्पष्ट है कि यह नौकरी पेशा मध्यवर्गीय लोगों के बीच की कहानी है। मध्यवर्ग अपनी तमाम विसंगतियों और झूठ के आवरण में जीने को अभिशप्त है। 'बिरादरी' कहानी पर चर्चा करते हुए कथा-समीक्षक मधुरेश लिखते हैं- 'बिरादरी में बिके हुए बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य है। इनमें से कोई कभी कम्युनिस्ट रह चुका है और कोई सोशलिस्ट। लेकिन अब वे सिर्फ 'पालतू' हैं। 'मैं' अपने को साबिर की बिरादरी का कहे जाने पर एतराज करता है- वह क्या चोरों की बिरादरी का है? लेकिन साबिर जैसे लोगों के लिए कुछ भी न करने के मामले में वे सब एक बिरादरी के हैं। वे सब 'वीक एण्ड' का शगल मनाते हैं और दूसरों की आमदनी पर टीका-टिप्पणी के बावजूद व्हिस्की से शामों को गुलजार रखते हैं। (नयी कहानीः पुनर्विचार, पृ. 206)

कहानी को 'मैं' पात्र के अंतर्विरोधों से तो समझा ही जा सकता है, अन्य चरित्रों का खोखलापन भी उनकी हरकतों से सामने आता है। उनके क्रिया कलाप बेहद सतही किस्म के हैं। वास्तव में समाज में खिंची जाति-धर्म की विभाजक रेखा का जिम्मेदार भी यही वर्ग है। हर मामले को अपने हिसाब से छोटे-छोटे तंगखानों में बाँटकर देखना मध्यवर्ग की ख़ास आदत है। शानी इसीलिए 'बिरादरी' की बुनावट में बृहत्तर भारत में फैले तथाकथित बुद्धिजीवी नौकरी पेशा मध्य वर्ग को केन्द्र में रखते हैं। कहानी के पाठ से स्पष्ट है कि त्रिपाठी की अंगूठी चोरी नहीं हुई थी। साबिर की पिटाई बस गुसलखाने में पाए जाने की वजह से हुई थी। एक दस-बारह साल के नाबालिग लड़के की लात-घूँसों से इतनी पिटाई की उसके मर-मरा जाने का सन्दर्भ बातचीत में आ जाए साबित करता है कि कमजोरों को सताने में त्रिपाठी जैसे वर्ग चरित्र सबसे आगे हैं। बर्मन, भट्ट और चौधरी जैसे पात्र भिन्न-भिन्न बोली-भाषी इलाकों का प्रतिनिधित्व करते हैं लेकिन अपनी मूल प्रवृत्ति में सब समान हैं। हिन्दू-मुसलमान की साम्प्रदायिक सोच के सन्दर्भों में वे बेहद कट्टर हैं। यहाँ तक कि अपने मुहल्ले के, अपने ही बीच के मुसलमान साथी की तर्कपूर्ण बातों से वे परहेज करते हैं। इतनी पिटाई के बावजूद साबिर को अगर डपटकर भगाने वाला मुस्लिम है तो उसे शक की निगाह से देखा जाता है और माना जाता है कि वह उसे शह दे रहा है। यहाँ तक कि साबिर की झुग्गी हटाने के लिए दिए जाने वाले प्रार्थना पत्र की उसे भनक तक नहीं लगती। किन्तु बहुसंख्यक आबादी के दबाव या उस वर्ग के अन्य चरित्रों की तरह अपने को ढाल चुके 'मैं' पात्र में भी एक लिजलिजापन है। कहने को तो वह कम्युनिस्ट पार्टी का कार्ड-होल्डर रह चुका है लेकिन वर्ग संघर्ष की

चेतना उसमें कहीं नहीं दिखती। विभाजन के बाद का मुस्लिम समुदाय अपने तमाम वैचारिक आधारों के बावजूद भारतीय समाज की मुख्यधारा में हस्तक्षेप करके बदलाव ला सकने की अपनी सीमाओं से परिचित है। शानी 'मैं' पात्र के बहाने उसी सीमा को रेखांकित करते हैं। बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के कहानी में गहरा व्यंग्य चलता रहता है। देखा जाय तो साबिर को पीटने वाले अपनी निजी जिन्दगी में खुद 'चोर' हैं। भ्रष्ट व्यवस्था भी उन्हीं के साथ है। सरकारी व्यवस्था को गरीब की झुग्गी उजाड़ने में देर नहीं लगती, बिना किसी वैकल्पिक पुनर्वास की व्यवस्था के। 'मैं' पात्र इस हक़ीकत को जानता है। उसे बिना किसी कारण के यह प्रमाणित करने का प्रयास करना पड़ता है कि वह साबिर के साथ नहीं है। इसमें उसके डर, असमंजस और विरोधाभास शामिल हैं। साथ ही वह अपमानित होने से भी डरता है। भट्ट का दरख्वास्त पर दस्तखत कराने न आना इसकी एक बानगी है।

इन सारी बातों के बावजूद कहानी में एक सन्दर्भ और महत्वपूर्ण है। वह यह कि साबिर को पुलिस को तो सौंपना दूर, पुलिस को कोई फोन भी नहीं करता। क्यों? क्योंकि चोरी प्रमाणित कर पाना सम्भव नहीं था- कहीं न कहीं यह सब जानते थे। साथ ही इतने छोटे बच्चे की इतनी पिटाई का हक़ भी उन्हें नहीं था। कानूनन वही फँसते। इस प्रकरण में इन काइयाँ चरित्रों की शेखी और कुण्ठा देखते बनती है। झूठ की आड़ में सिर्फ बातें ही बातें हैं। कहानी पढ़ते हुए हम इस सूक्ष्म सच्चाई को पकड़ सकते हैं। इसी झूठ और बड़बोलेपन में त्रिपाठी साबिर को अच्छी जगह काम दिलाने का वादा भी कर देता है और करता कुछ नहीं है। त्रिपाठी और 'मैं' पात्र जैसे दोमुहाँ चरित्र पीड़ा में हैं। वे दुःखी हैं कि भट्ट की तरह सरकार को कोल कर अपना घर उतना नहीं भर पा रहे हैं। इसीलिए आम चुनाव की चर्चा में 'मैं' पात्र की भट्ट के प्रति नफरत फूट पड़ती है। चुनाव में भी प्रचार वाहनों के माध्यम से शानी हिन्दू-मुस्लिम प्रत्याशियों के बहाने धार्मिक आधार पर वोटों के ध्रुवीकरण का संकेत देते हैं। इस पूरी व्यवस्था में छद्म बौद्धिक वर्ग गहरे मनस्ताप में है। जितना तेजी से वह चाहता है उतना तेजी से भ्रष्टाचार के माध्यम से नवधनाढ्य बन नहीं पा रहा है, दुनिया को दिखाने के लिए अच्छा, ईमानदार और शरीफ भी दिखना चाह रहा है, उसे चिन्ता भी है कि देश की प्रगतिशील ताकतें दिन-ब-दिन कमजोर होती जा रही हैं। स्वाभाविक है कि इस तरह के दोहरे मानदण्डों का जीवन जीने वाले लोग ही जब प्रगतिशीलता की आड़ में लाभ लेने की फिराक में रहेंगे तो प्रगतिशील ताकतें तो कमजोर होंगी ही। एक-एक कर बर्मन, 'मैं' पात्र, त्रिपाठी, भट्ट और चौधरी जैसे पात्रों को देखिए। क्या ये कहीं से प्रगतिशील लगते हैं। अपनी-अपनी बंद जिन्दगियों में सब के सब मक्कार हैं। इसीलिए इन सब की बिरादरी एक है। इसे समझने के लिए 'मैं' पात्र और साबिर की माँ के बीच हुए संवाद को पहले पढ़िए- "साब, मैं किसके पास जाऊँ?," सुबह उस औरत ने रोते हुए मुझसे कहा था, "सिद्दीकी साहब दौरे पर हैं और आपके सिवा हमारा यहाँ कोई नहीं। यहाँ तो जिसे देखो हाथ में तीर-कमान लिए बैठा है। लोगों का तो जैसे कलेजा सफेद हो गया। जब अपनी बिरादरी के होकर आप भी मेरे लिए कुछ न करें तो ...."

"देखो बीया," मैंने झल्लाकर गुस्से में कहा था, "बिरादरी-मिरादरी की बकवास तो तुम यहाँ रहने दो, क्या मैं चोरों की बिरादरी का हूँ?"

अब त्रिपाठी और 'मैं' पात्र की बातचीत का अंश देखिए-

"यार, मैं भट्ट का पक्षधर नहीं हूँ", त्रिपाठी ने मेरा रुख देखकर कहा था, "तुम्हारे गुस्से को भी समझता हूँ लेकिन सवाल यह है कि भट्ट ही क्यों, कोई और क्यों नहीं या वह व्यवस्था क्यों नहीं जिसके चलते ये छुट्टे साँड़ बने हुए हैं या साबिर जैसे लोग पैदा होते

हैं। क्या भट्ट अकेला है? क्या उसके साथ पूरी-की-पूरी बिरादरी नहीं है और क्या हम-तुम भी उस बिरादरी में शामिल नहीं हैं? असल में दोस्त, हमारा-तुम्हारा दर्द यह नहीं कि भट्ट सरकार को कोल रहा है, तकलीफ यह है कि हाय उसकी जगह हम क्यों नहीं हुए?"

स्पष्ट है कि प्रगतिशीलता का दम भरने वाले ये वर्ग चरित्र एक ही बिरादरी के हैं और बेहद टुच्चे हैं। साबिर का चरित्र तो एक बहाना भर है, दरअसल शानी उसके माध्यम से इन बड़े चोरों का पर्दाफ़ाश करना चाहते हैं। साथ ही हिन्दू-मुस्लिम खाई की ओर संकेत भी जो अभी तक भरी नहीं जा सकी। अवसरवाद और स्वार्थ से भरी जिन्दगी जीने वाले लोग किसी भी तरह की परिवर्तनकारी स्थिति से या तो बचते हैं या अपने को उसके अनुरूप ढाल लेते हैं। सोच के स्तर पर वे प्रतिगामी भी हो सकते हैं और अपने तमाम खोखले दावों के बावजूद सच की पक्षधरता की आवाज़ उठाने से डरते हैं। 'मैं' पात्र भी साबिर की माँ की मदद न करके अपने को बिरादरीवाद से बचाना चाहता है। उसके लिए साबिर के घर की ग़रीबी कोई मायने नहीं रखती। वह उसे गरीब के रूप में या कमजोर के रूप में न देखकर मुसलमान के रूप में देखता है। स्वाभाविक है कि वह भी बिरादरीवाद की संकीर्ण सोच से ऊपर नहीं उठ पाया है। यह संकट दोनों ओर है, बस उसके सन्दर्भ और दबाव अलग हैं। शायद इसीलिए शानी 'मैं' पात्र के झूठ से कहानी समाप्त करते हैं। वह अपने ड्राइंग रूम में त्रिपाठी के साथ व्हिस्की का पैग चढ़ाते हुए अपनी बीबी से साबिर की माँ को टालने के लिए कहता है। उसकी बीवी साबिर की माँ से कहती है- "साबिर की अम्मा, तुम सुबह मिल लेना अभी तो वो सो रहे हैं!"

5.6 भाषा-शैली

'बिरादरी' कहानी पढ़ने के बाद एक बात साफ हो जाती है कि शानी भाषा के स्तर पर आम बोल-चाल के शब्दों के इस्तेमाल के पक्षधर हैं। कहानी में कहीं भी कोई शब्द सायास ठूँसा हुआ नहीं है, न ही किसी शब्द से उन्हें अतिरिक्त मोह दिखता है। सहज-सरल भाषा में वर्णन करते हुए वे कहानी का विस्तार करते हैं। हाँ, इतनी सरल भाषा में जो बात चिन्हित करने की है वह है संकेतों की सघन बुनावट। लेकिन इस बुनावट में भी वे कहानी को बोझिल नहीं करते, उलझाते नहीं। प्रतीक उनके यहाँ संयत हैं और बहुत ही समझदारी से प्रयोग में लाए गए हैं। कहानी का शीर्षक 'बिरादरी' जितना स्थूल लगता है, उतना है नहीं। 'बिरादरी' के बहाने वे इस शब्द के व्यापक अर्थ बोध से परिचित कराते हैं और स्पष्ट करते हैं कि बिरादरी सिर्फ़ जाति-धर्म तक सीमित नहीं है, बल्कि उसकी आड़ में एक बड़ी 'बिरादरी' फल-फूल रही है जिसे पहचानने की जरूरत है।

कहानी में बात-चीत शैली का इस्तेमाल प्रमुखता से हुआ है, इसीलिए संवाद महत्वपूर्ण हो गए हैं। संवादों की भाषा पात्रों के अनुकूल है। जैसे चौधरी नामक पात्र का कथन देखिए- "गया इतवार को हाम पीक्चर गया था फैमिली का साथ। मेटनी शो। तारपोरे लौटकर देखा तो पीछू का आँगन से वाइफ का शाड़ी गायब। उहाँ एक लोटा परा था, शाला वो भी ले गीया........."

बातचीत में आने वाले मुहावरे या उससे जुड़ी शब्दावली भाषा को मुहावरेदार बनाती है। जैसे- "जो आपके भी कान काट दे वह बच्चा कैसे हुआ?" "उस शाख को ही काट फेंको जिस पर उल्लू बसेरा करता है।" "मेरा खून खौल रहा था।" "राँड़ का बेटा साँड़।" "साले ने जबान ही पकड़ ली"। कहानी में बिरादरी का मुद्दा उठाने के लिए शानी आरम्भ में ही पिटते हुए साबिर से क़सम खिलवाते हैं- 'अल्ला कसम, कुछ भी नहीं लिया।' साबिर

की माँ की भाषा देखिए– 'कई बार तो मैंने उसका गला मसक दिया है। वह मरता भी नहीं है। मुझे तो इस माटी मिले पेट के दोजख से ही फुरसत नहीं मिलती।' कहानी में भाषा का चलतापन बोलचाल के उर्दू के शब्दों से और निखर आया है। बातचीत में संवाद भी छोटे-छोटे ही हैं। व्यंग्य की धार मारक किन्तु ठंडी है। उसमें कहीं तेजी या जोर-जबरदस्ती नहीं है। वह भीतर ही भीतर बेधती रहती है, छीलती-काटती।

शैली में वर्णन शैली और चित्रण शैली दोनों का प्रयोग हुआ है। 'मैले कुरते और इंतजार में वह अधेड़ औरत घिसी हुई लगी, अल्मूनियम के पुराने बर्तन की तरह। उसका साँवला रंग जला हुआ और ठंडा था, चूल्हे की बुझी हुई और राख ढँकी लकड़ी की तरह और आँखें? वे बारिश के छोटे-छोटे और गँदले डबरों की तरह थीं, बाढ़ उतर जाने के बाद।' साबिर की माँ का यह चित्रण शानी की बिम्ब-प्रतीक शैली को भी बयान करता है। एक प्रयोग और देखिए- 'खिड़की पर आधी झुक आई बेगन-बेलिया बार-बार गर्दन झुकाकर यूँ हवा से लड़ रही थी जैसे उसके सींग हों।'

कुछ और बातें ध्यान देने योग्य हैं। जैसे– साबिर की माँ 'मैं' पात्र से कहती है– 'यहाँ तो जिसे देखो हाथ में तीर-कमान लिए बैठा है।' उधर चुनाव प्रचार में भी तीर कमान का जिक्र आता है। 'अपना निशान, तीर कमान।' दोनों को मिलाकर देखने पर चुनाव के सांप्रदायिक संदर्भों का पता चलता है। साबिर मारे जाने पर सूअर की तरह चिल्लाता है और उसे 'सूअर के बच्चे' की गाली दी जाती है। मुस्लिम सन्दर्भों में इसे देखा जाये तो यह कहानी के पात्र की माँग के अनुसार सायास भी माना जा सकता है। स्पष्ट है कि शानी बेहद सरल-सहज-स्पष्ट रास्ते पर कहानी को बढ़ाते हुए भी अपने मूल मंतव्यों में पूरी तरह सजग है।

5.7 सारांश

शानी की कहानियों का पहला संग्रह 'बबूल की छाँव' 1958 में प्रकाशित हुआ था। नयी कहानी आन्दोलन के कहानीकार होते हुए भी वे अपनी कहानियों में कुछ अलग सन्दर्भ उठाते हैं। गुलशेर खान शानी म.प्र. के जगदलपुर के रहने वाले थे। बाद में वे दिल्ली आए और साहित्य सेवी बने रहे। इनकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। शानी की आरम्भिक कहानियों का भौगोलिक क्षेत्र तो बस्तर का आदिवासी क्षेत्र ही है किन्तु उनके चरित्र निम्न मध्यवर्गीय परिवेश के हैं। वे अपने आस-पास के समय और समाज से पूरी तरह जुड़े रहे। शानी की अधिकांश कहानियाँ विभाजन के बाद के भारतीय मुस्लिम समाज के भय, तकलीफों, भीतरी अन्तर्विरोधों, यंत्रणाओं और असंगतियों की कहानियाँ हैं। शानी बेहद साधारण से लगने वाले पात्रों को लेकर महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े करते हैं। प्रतीक्षा के स्वर, मोह-भंग, सम्बन्धों की टूटन, अलगाव, गरीबी, कृत्रिमता, झूठ, आधुनिकता के नाम पर दोहरा चरित्र, स्त्री सन्दर्भ, ढकोसले, द्वन्द्व, डर असमंजस और अंतर्विरोधों को बयान करती शानी की कहानियों में आम आदमी की उपस्थिति हर जगह मौजूद मिलती है।

'बिरादरी' शानी की महत्वपूर्ण कहानी है जिसमें एक मुस्लिम बच्चे साबिर, उसकी माँ और 'मैं' पात्र के सहारे जाति-धर्म में बँटे समाज का चित्रण किया गया है। बर्मन, भट्ट, चौधरी, मैं पात्र की बीबी और त्रिपाठी जैसे चरित्र अपनी-अपनी निजी जिन्दगियों में झूठ के साथ खड़े हैं। भ्रष्ट व्यवस्था में सब के सब अवसरवादी और चोर हैं किन्तु बिना चोरी किए ही एक बच्चे को चोर घोषित करके पीटते हैं। वास्तव में सब के सब चोरों की बिरादरी में हैं क्योंकि सब के सब भ्रष्ट हैं- आर्थिक और नैतिक दोनों स्तरों पर। इस ख़ास बिरादरी की फ़सल जाति-धर्म की बिरादरी के खाद-पानी से फलती-फूलती है। राजनीति भी इससे

अछूती नहीं है। यह साबित करना कहानीकार का उद्देश्य है। इसीलिए 'बिरादरी' शीर्षक गहरे अर्थ संकेत देता है। भाषा के स्तर पर कहानी सहज-सरल है। वर्णन और चित्रण दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ है। कहानी में मुहावरे, प्रतीक और बिम्ब भी आते हैं लेकिन कहानी की पठनीयता कहीं बोझिल नहीं होती।

5.8 अभ्यास

1. शानी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।
2. शानी की कहानियों के महत्वपूर्ण बिन्दुओं की पड़ताल कीजिए।
3. 'बिरादरी' कहानी की कथा-वस्तु लिखिए।
4. 'बिरादरी' कहानी की समीक्षा कीजिए।
5. 'बिरादरी' कहानी की भाषा-शैली पर टिप्पणी कीजिए।

इकाई 6 हंसा जाई अकेला : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई का रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 कहानीकार मार्कण्डेय : एक परिचय

6.3 'हंसा जाई अकेला' की कथावस्तु

6.4 कथा-संरचना

6.5 कहानी का शीर्षक

6.6 हंसा का व्यक्तित्व : साधारण भी और अनूठा भी

6.7 अन्य चरित्र

6.8 परिवेशगत यथार्थ

6.9 भाषा-शैली

6.10 सारांश

6.11 अभ्यास

6.0 उद्देश्य

यह एम.ए. हिन्दी के द्वितीय वर्ष के कहानी से संबंधित माड्यूल के पाठ्यक्रम खण्ड-2 की इकाई 6 है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- नयी कहानी आन्दोलन को समझ सकेंगे/सकेंगी।
- कहानीकार मार्कण्डेय की विशेषताओं को जान सकेंगे/सकेंगी।
- मार्कण्डेय की कहानी 'हंसा जाई अकेला' के कथ्य और उसकी संरचना की विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे/सकेंगी।
- 'हंसा जाई अकेला' कहानी में चित्रित परिवेशगत यथार्थ का आलोचनात्मक अध्ययन कर सकेंगे/सकेंगी।
- 'हंसा जाई अकेला' कहानी के प्रमुख चरित्र 'हंसा' और सुशीला का अंतरंग परिचय प्राप्त कर सकेंगे/सकेंगी।
- 'हंसा जाई अकेला' कहानी की विशिष्ट भाषा-शैली से अवगत हो सकेंगे/सकेंगी।
- इस इकाई से आप यह भी जान सकेंगे/सकेंगी कि मार्कण्डेय ग्रामीण जीवन की वास्तविकता को बहुत निकट से जानने वाले, उसकी आत्मीय छवि अंकित करने वाले और सामान्य जन के दुःख-दर्द के प्रति गहरी सहानुभूति रखने वाले कहानीकार हैं।

6.1 प्रस्तावना

मार्कण्डेय 'नयी कहानी' आन्दोलन की प्रगतिशील धारा के महत्वपूर्ण कहानीकार है। उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय गाँव से शहर में आये हुए ऐसे कहानीकार हैं जिन्होंने अपनी रचना में ग्रामीण संवेदना और यथार्थ को प्रमुखता के साथ चित्रित किया और सामान्यजन के दुःख-दर्द को बड़ी सच्चाई के साथ अंकित करते हुए अपनी जनपक्षधरता को पूरी शिद्दत के साथ रेखांकित किया। कहना चाहिए कि वे 'नयी कहानी' के ऐसे कहानीकार हैं जिनकी जनपक्षधरता प्रेमचन्द की परम्परा से बड़ी गहराई के साथ जुड़ती है। मार्कण्डेय और उनकी कहानियों के बारे में जानने से पूर्व 'नयी कहानी' आन्दोलन और उसकी उन विशेषताओं से अवगत होना जरूरी है जिनसे मार्कण्डेय न केवल जुड़ते हैं बल्कि उन्हें गति एवं दिशा भी देते हैं।

नयी कहानी आन्दोलन :

सामान्यतः यह माना जाता है कि 'नयी कहानी आन्दोलन' स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का ऐसा कहानी-आन्दोलन है जिसने हिन्दी कहानी को नये जीवन-बोध और नये कहानी शिल्प की ओर अग्रसर किया और पहले से चली आ रही कथा-चेतना से अपनी पृथक्ता स्पष्ट की। यह आन्दोलन स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के जीवन-यथार्थ से उद्भूत हुआ था। ध्यातव्य है कि आजादी मिलने के बाद देश का सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक यथार्थ काफी बदल गया। जिस देश में लोग 14 अगस्त 1947 ई0 तक अंग्रेजों के गुलाम थे, 15 अगस्त 1947 ई0 को वे अपने देश के मालिक हो गये। सत्ता उनके हाथ में आ गई, लोग स्वतंत्र हो गये और उन्होंने महसूस किया कि यह देश अब पूरी तरह उनका है और वे ही इस देश के भाग्य-विधाता हैं। शासन के लिए प्रजातांत्रिक प्रणाली को अपनाने के कारण देश की जनता में आत्म-विश्वास और आत्म-गौरव का भाव उत्पन्न हुआ। इसलिए जनता और उसके नेता देश के नव निर्माण में नये उत्साह, नये विश्वास, नयी कल्पनाशीलता और नये स्वप्नों के साथ जुड़ गये। नवोत्साह के इस वातावरण में साहित्य में भी नवीनता का संचार हुआ और नये जीवन-यथार्थ को नये ढंग से कहने-लिखने और रचने की प्रक्रिया तेज हुई।

आजादी के बाद का कुल यथार्थ इतना ही नहीं है कि देश में नया जोश और नया जीवन पैदा हुआ बल्कि तस्वीर का दूसरा रूख यह भी है कि हमें जो आजादी मिली थी वह इतनी रक्तरंजित थी कि उसे याद करके रूह काँप जाती है। उस समय साम्प्रदायिक हिंसा का जो तांडव हुआ, लूटपाट व बलात्कार की जो जघन्य घटनाएँ हुई, उससे मानवता की चूलें भी हिल गईं। देश-विभाजन की त्रासदी, लोगों का विस्थापन, शरणार्थियों की समस्याएँ आदि आजादी के साथ दुखद अध्याय के रूप में मिली थीं। इन परिस्थितियों में मानवता कराह उठी, मानवीय सम्बन्धों की ऊष्मा खत्म सी हो गई और जीवन-मूल्य कई तरह से क्षत-विक्षत हो गये।

आजादी के बाद देश की राजनीति का चेहरा भी काफी बदल गया। पंचवर्षीय चुनावों और पंचवर्षीय योजनाओं के साथ विकास-पथ पर अग्रसर होने वाली राजनीति सत्ता के खेल में मशगूल हो गयी। स्वाधीनता-प्राप्ति के समय ही समझदार लोगों ने भाँप लिया था कि यह आजादी अधूरी है और यह केवल सत्ता का हस्तांतरण मात्र है। फर्क इतना ही हुआ है कि जॉन (अंग्रेज) की जगह गोविन्द (भारतीय) सत्ता की कुर्सी पर बैठ गये हैं, शासन की रीति-नीति पुरानी ही है। बहुत जल्द जनता ने समझ लिया कि देश सत्ता-लोलुपों, तिकड़म बाजों, मौका परस्तों और भ्रष्टाचारियों के चंगुल में आ गया है। इस ऐतिहासिक

मोहभंग के फलस्वरूप कांग्रेस पर से जनता का विश्वास उठ गया। यद्यपि नेहरू ने औद्योगीकरण के माध्यम से आधुनिक भारत के निर्माण की प्रक्रिया तेज कर दी थी किन्तु उससे देश की कृषि-प्रधानता को गहरा धक्का लगा और देश की पूँजी कुछ समृद्ध परिवारों में ही सिमटने लगी। इससे जनता की बदहाली और बेकारी में इजाफा ही हुआ, उसकी आर्थिक दशा और चरमरा गई।

मशीनीकरण, औद्योगीकरण एवं शहरीकरण के फलस्वरूप नयी जीवन-स्थितियाँ पैदा हुईं, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में भी नये आयाम जुड़े, स्त्री-शिक्षा और समाज में उसकी हैसियत को लेकर नयी बहस शुरू हुई, घर की चहारदीवारी से निकलकर स्त्रियाँ ने सरकारी कार्यालयों, स्कूलों और प्रतिष्ठानों एवं संस्थानों में कामकाजी महिलाओं के रूप में अपने व्यक्तित्व का निखार करके आत्म-निर्भरता की ओर चल पड़ीं। इससे घर-परिवार में स्त्री की स्थिति में फर्क पैदा हुआ, स्त्री पुरुष सम्बन्ध भी कई तरह से प्रभावित हुआ, प्रेम की पुरानी धारणा में परिवर्तन हुआ, पुराने मूल्यों के टूटने और नये मूल्यों के बनने की प्रक्रिया शुरू हुई। इन सब स्थितियों ने नये कहानीकारों को न केवल नये विषय-क्षेत्र दिये, बल्कि जीवन और समाज के बारे में नये ढंग से सोचने और समझने के लिए विवश भी किया।

नयी कहानी सन् 1947 से लेकर सन् 1963 तक की घटनाओं से अधिक प्रभावित हुई है। इन वर्षों के दौरान व्यक्ति में दो तरह की भावनाएँ पैदा हुई। एक तो आजादी के बाद की आशा और दूसरी उस आशा का टूटना यानी मोहभंग। इस तरह नये कहानीकारों ने समाज की बदलती हुई परिस्थितियों का चित्रण तो किया ही, आजादी के बाद जो मोहभंग हुआ, उसको भी अंकित किया। 'नयी कहानी' ने 'अनुभव की प्रामाणिकता' और 'अभिव्यक्ति की ईमानदारी' तथा 'परिवेशगत यथार्थ' पर विशेष बल दिया। इस तरह 'नयी कहानी' में भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिक एवं ईमानदार अभिव्यक्ति को प्रमुखता मिली और कहानी अपने देश-काल के यथार्थ से बड़ी गहराई से जुड़ गई। यथार्थ, संवेदना और दृष्टि के बदलने से कहानी के शिल्प-तंत्र पर भी काफी प्रभाव पड़ा। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, घटनात्मकता की जगह कहानी में प्रभान्विति, संवेदनात्मकता और परिवेशगत यथार्थ महत्वपूर्ण हो गया। कहानी में निजता या निजी अनुभूति को प्रधानता मिल जाने के कारण उसमें काफी संवेदनात्मकता और आन्तरिकता का सन्निवश हो गया।

6.2 कहानीकार मार्कण्डेय : एक परिचय

मार्कण्डेय 'नयी कहानी आन्दोलन' की नींव रखने वाले कहानीकारों के बीच आदर्शों के साथ उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि जब कमलेश्वर की प्रेरणा से दुष्यन्त कुमार ने 'कल्पना' के जनवरी 1955 वाले अंक में कहानी पर एक लेख लिखा और उसमें 'नयी कहानी' की चर्चा की, तभी मार्कण्डेय ने भी 'कल्पना' में छद्म नाम 'चक्रधर' से कहानी पर टिप्पणियाँ लिखी और 'नयी कहानी' को 'एक भटकी हुई विधा' कहा किन्तु यह भी लिखा कि 'वह अंधेरे में टटोल रही है।' अर्थात् उसकी दिशा अभी बहुत स्पष्ट नहीं है लेकिन मार्कण्डेय ने उसी समय यह भी स्पष्ट कर दिया था कि बदलते हुए जीवन यथार्थ से जुड़ी हुई कहानी ही सच्ची कहानी हो सकती है- 'मेरे लिए सच्ची रचना वहीं-कहीं छिपी है, जहाँ जीवन बदल रहा है।' आगे चलकर मार्कण्डेय ने अपनी कहानियों से 'नयी कहानी' को आन्दोलन को गति ही नहीं दी, ग्रामीण जीवन यथार्थ को संवेदनात्मक ढंग से चित्रित करके उसके वस्तुक्षेत्र को विस्तृत किया।

नयी कहानी आन्दोलन को गति देने वाले कहानीकार 'कमलेश्वर' मैनपुरी से और 'मार्कण्डेय' जौनपुर के बराई नामक गाँव से इलाहाबाद आये थे। कमलेश्वर और

मार्कण्डेय हम उम्र थे किन्तु लेखन में कमलेश्वर ने मार्कण्डेय से पहले अपनी स्थिति बना ली थी, मार्कण्डेय ने 1952 के आस-पास कहानी लेखन की शुरूआत की और जल्द ही ग्रामीण जीवन के यथार्थ को संवेदनात्मक ढंग से अंकित करने वाले कथाकार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। उनका पहला कहानी-संग्रह 'दानफूल' 1954 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह से उन्हें पर्याप्त ख्याति मिली। इस संग्रह की कहानियों में ग्रामीण परिवेश को इतनी जीवन्तता और रसात्मकता के साथ चित्रित किया गया था कि पाठकों को ग्रामीण कथा-स्थिति की माटी की सुगन्ध ताजा हवा के झोंके की तरह महसूस हुई। 'कहानी : नयी कहानी' में नामवर सिंह ने लिखा है— 'गाँव की जिन्दगी पर कहानियाँ पहले भी लिखी जाती थीं, लेकिन जिस आत्मिकता के दर्शन मार्कण्डेय की कहानियों में होते हैं, वह अत्यन्त दुर्लभ है।' प्रेमचन्द ग्रामीण यथार्थ को चित्रित करने वाले महत्वपूर्ण कलाकार हैं लेकिन उनके 'गाँव' और मार्कण्डेय के 'गाँव' में बड़ा फर्क है। रेणु, शिव प्रसाद सिंह, मार्कण्डेय आदि कहानीकारों ने प्रेमचन्द की परम्परा में रहते हुए भी स्वातंत्र्योत्तर भारत के गाँवों को अपनी विशिष्ट नजर से देखा, समझा और उसे विशिष्ट ढंग से चित्रित किया। इस तथ्य को रेखांकित करते हुए राजेन्द्र यादव ने 'एक दुनिया समानान्तर' में लिखा- 'चाहे शिव प्रसाद सिंह की 'दादीमाँ' हो अथवा मार्कण्डेय की 'गुलरा के बाबा', सभी की परिणति आदर्शवादी है। ये प्रेमचन्द की परम्परा में पड़ती है, फिर भी उससे भिन्न है। इस भिन्नता के दो कारण हैं- एक तो यह कि किन्हीं अंशों में ये भोगे हुए जीवन की अभिव्यक्तियाँ है, दूसरा यह कि गाँव इनके पहले अपने रूप-रंग की पूर्णता के साथ निर्मित नहीं हुआ था। गाँव की पूरी सेटिंग यथार्थ है पर उसे देखने का परिप्रेक्ष्य रोमैण्टिक है। प्रेमचंद आदर्शवादी अवश्य थे पर रोमैण्टिक नहीं थे। गाँव के प्रति इनका लगाव इन्हें कुछ मोह ग्रस्त बना देता है।' कहना न होगा कि गाँव के प्रति यह रोमैण्टिक दृष्टि कहानीकारों को स्वाधीनता की कोख से मिली थी। आत्मिकता भी उसी की उपज है।

मार्कण्डेय का पहला कहानी— संग्रह 'दानफूल' (1954) के बाद 'महुए का पेड़' (1955), 'हंसा जाई अकेला' (1957) और 'भूदान' (1958) जैसे कहानी-संग्रह प्रकाश में आये। इन संग्रहो में 37 कहानियाँ संकलित है। इनमें केवल आठ-दस कहानियाँ है जो ग्रामीण क्षेत्र से बाहर अर्थात कस्बाई जिन्दगी से सम्बद्ध है बाकी ग्रामीण जीवन को चित्रित करने वाली ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें गाँव अपने सम्पूर्ण यथार्थ-बोली बानी सुगन्ध, तीज त्योहार आदि— के साथ बड़े जीवन्त रूप में उपस्थित है। 'गुलरा के बाबा', 'पानफूल', 'संगीत', 'आँसू और इंसान', 'सात बच्चों की माँ', 'जूते', 'साबुन', 'मिस शांता', 'महुए का पेड़', 'दौने की पत्तियाँ, 'हंसा जाई अकेला', 'चाँद का टुकड़ा', 'धूल का घर', 'भूदान' आदि अच्छी कहानियाँ है जो मार्कण्डेय के ग्रामीण जीवन-बोध का तो पता देती ही हैं, गाँवों के प्रति राग भी पैदा करती है।

उपर्युक्त कहानी-संग्रहों के अतिरिक्त मार्कण्डेय के अन्य कहानी संग्रह है- 'माही', 'सहज और शुभ', 'बीच के लोग', और 'हलयोग'। इसके अतिरिक्त 'मार्कण्डेय की चुनी हुई कहानियाँ' शीर्षक से उनकी चुनी हुई कहानियों का एक अच्छा संकलन प्रकाशित हुआ है। इसमें उनकी दस चर्चित एवं महत्वपूर्ण कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं- 'शवसाधना', 'दूध और दवा', 'हंसा जाई अकेला', 'सहज और शुभ', 'सोहगइला', 'प्रिया सैनी', 'मध्युपुर के सीवान का एक कोना', 'जूते', 'धुन', और 'बीच के लोग'। इन कहानियों को पढ़ते हुए बराबर यह महसूस होता है कि मार्कण्डेय ने भले ही गाँव से आकर इलाहाबाद जैसे नगर में शिक्षा प्राप्त की हो और जीवन जिया हो किन्तु उनके संस्कारों और सहानुभूतियों का स्रोत कहीं गाँव के जीवन में ही खोया हुआ है।

ग्रामीण जीवन-यथार्थ को अंकित करने वाले मार्कण्डेय ने गाँव के बदलते हुए यथार्थ और गाँवों की हार्दिक छवि को संवेदनात्मक ढंग से चित्रित किया है। उनके ग्रामीण पात्र

(मसलन घूरा, गुलरा के बाबा, रामलाल और हंसा) ऐसे पात्र है जिनमें एक निष्कपट मानव की प्रतिष्ठा है और जो अपनी परिस्थितियों की अनिवार्य उत्पत्ति हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्धों की वास्तविकता, मतों-विश्वासों, रीति-रिवाजों और रोजमर्रा का जीवन उनके संघर्ष और उनकी जय-पराजय, अविश्वास और नैतिक संक्रमण इन कहानियों में दर्ज हैं।

उनकी ग्रामीण यथार्थवादी कहानियों में एक ओर है- गाँव की सोंधी मिट्टी का मोह, जहाँ हरे-भरे खेत, धान-गेहूं की बालियाँ और बाहर से चरकर लौटती हुई गायों का रँभाना, तो दूसरी ओर है- एक भयानक खामोशी, धू-धू जलते सिवान, ढहती हुई सामन्ती व्यवस्था के अवशेष, सामाजिक परिस्थितियों का बन्धन और आर्थिक दबाव से बदलते हुए नैतिक प्रतिमानों का प्रतिरूप। दरअसल मार्कण्डेय कहानियों में जनजीवन की सच्ची और महान कथा प्रस्तुत करने के हिमायती हैं। उन्होंने लिखा है- 'कुल मिलाकर आज के नये कथा-साहित्य के सामने मुख्य प्रश्न किसी विशिष्ट अंचल का ही नहीं वरन् नई ग्रहण शीलता का है जिसके लिए जीवन का कोई भी पक्ष, वास्तविकताओं की कोई भी सतह समान रूप से स्वीकार्य और महत्वपूर्ण है।' अपनी इस धारणा के तहत उन्होंने आजादी के बाद के गाँवों के नये यथार्थ को पूरी ईमानदारी और प्रामाणिकता के साथ चित्रित किया है। युद्ध से लौटे सैनिक, उच्चशिक्षा प्राप्त और तरह-तरह के विदेशी सिद्धान्तों से परिचित राजनीतिक कार्यकर्ता, शिक्षा समाप्त करके नगरों में नौकरी न पाने के कारण लौटे नवयुवक, सरकारी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए गाँवों में आकर रहने वाले सरकारी कर्मचारी तथा पदाधिकारी, अखबार, रेडियों, चुनाव, पंचायत आदि ने ग्राम-जीवन को जिस तरह नये रूपों में ढाला- परिवर्तित किया- उस सबको मार्कण्डेय ने अपनी कहानियों में चित्रित करके हिन्दी कहानी को नया स्वाद और शिल्प प्रदान किया। इन तथ्यों को 'हंसा जाई अकेला', 'गुलरा के बाबा', 'भूदान', 'नौ सौ रूपयें और एक ऊँट दाना', 'माई', 'मन के मोड़', 'साबुन', 'घूरा', 'आदर्श कुक्कुट गृह', 'सेमल के फूल', 'मिस शान्ता', 'नीम की टहनी', 'चाँद का टुकड़ा', 'दोने की पत्तियाँ' आदि कहानियों के माध्यम से समझा जा सकता है। धनंज्जय वर्मा ने बहुत सही लिखा है कि 'ग्रामीण जीवन को अपेक्षकृत उपेक्षित वास्तविकता को समझने और राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में इस वास्तविकता के विविध पक्षों का विश्लेषण करते हुए एक सुनिश्चित दृष्टिकोण विकसित करने की दिशा ही मार्कण्डेय की प्रतिज्ञा है। आधुनिक भूमि सुधारों और औद्योगिकरण से उत्पन्न परिस्थितियों ने ग्राम जीवन को एक नया संस्कार दिया है और उसकी पुरानी व्यवस्था में भी एक परिवर्तन आया है जिसने गाँव के चरित्रों और वास्तविकता का रूप बदला है। इसी की अभिव्यक्ति उनका लक्ष्य है।'

यह सही है कि मार्कण्डेय ने ग्रामीण जीवन से संबधित अधिक कहानियाँ लिखी है और शहरी जीवन से सम्बन्धित बहुत कम, किन्तु शहरी जीवन से संबन्धित उनकी कहानियाँ भी महत्वपूर्ण है। 'सतह की बातें', 'सूर्या', 'तारों का गुच्छा', 'आदर्शों का नायक', 'पक्षाघात' आदि कहानियों में शहरी जीवन की जटिलता के साथ-साथ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों और प्रेम जीवन की व्यक्तिगत कुण्ठाओं, असमानताओं का चित्रण हुआ है जिससे पता चलता है कि वे मनुष्य के अंतर्मन के भी अच्छे पारखी थे। 'सतह की बातें' कहानी प्रेम-संबंधों की जटिलता का ऐसा जटिल रूप प्रस्तुत करती है कि अन्त तक कहानी के पात्र जटिल ही बने रह जातें है। नामवर सिंह ने इसे निर्मल वर्मा की 'तीसरा गवाह' कहानी से तुलना करते हुए इसे 'सतह की अनेक परतें उकेरने वाली' कहानी बताया है। दरअसल शहरी जीवन की कहानियाँ लिखते समय मार्कण्डेय नयी कहानी आन्दोलन की नयी प्रेम संवेदना के दबाव में इस तरह आ गये कि उन्होंने अपनी प्रकृति भूमि से हटकर प्रेम के मनोविज्ञान और अन्तर्जगत के सच को लिखना शुरू कर दिया। इनमें वे अपनी ग्राम-संवेदना की कहानियों की मार्मिकता और जीवन्तता का सन्निवश न कर सके और ये

कहानियाँ केवल जटिल प्रेम-सम्बन्धों का जटिल भाव-बोध पैदा करने तक ही सीमित होकर रह गयी।

मार्कण्डेय को ग्रामीण जीवन के सच्चे कथाकार के रूप में व्यापक प्रतिष्ठा मिली, साथ ही वे एक ऐसे प्रतिबद्ध कहानीकार के रूप में पहचाने गये जो आम आदमी के संघर्ष में पूरी तरह शामिल है। सामान्य जन के दुःख-दर्द से उनका आत्मीय नाता है और यह नाता केवल वैचारिक न होकर वास्तविक और गहरा है इसी नाते को केन्द्र में रखकर उन्होंने अपनी कहानियों का ताना-बाना बुना है और पाठकों में दीन, हीन, शोषितों और उपेक्षितों के प्रति गहरी सहानुभूति और पीड़ा पैदा की है। यह सहानुभूति और पीड़ा यथार्थ की सही समझ और वास्तविकता की नई ग्रहणशीलता से पैदा हुई है।

6.3 'हंसा जाई अकेला' की कथावस्तु

'हंसा जाई अकेला' मार्कण्डेय की सर्वाधिक चर्चित कहानी है। मार्कण्डेय सामान्य जन के दुःख-दर्द को बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण ढंग से चित्रित करने वाले कथाकार है। यह कहानी उनकी इस दृष्टि और संवेदना का अच्छा पता देती है। इस कहानी में मार्कण्डेय ने 'हंसा' नामक सामान्य व्यक्ति की व्यथा-कथा को बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। 'हंसा' गाँव का एक अति सामान्य और भाग्य का मारा हुआ व्यक्ति है। उसके परम हितैषी 'बाबा' उसकी एक छोटी-सी गलती पर अपने-आप से झुँझलाते हुए कहते हैं– 'समझाते-समझाते उमिर बीत गयी, पर यह माटी का माधों ही रह गया। ससुर मिलें, तो कस कर मरम्मत कर दी जाए आज।' इससे 'हंसा' का एक छोटा-सा परिचय मिल जाता है। बहुत समझाने-बुझाने के बाद भी वह 'माटी का माधो' ही रह गया है और 'ससुरा' जैसा संबोधन तो उसके लिए सहज हो गया है जिसमें लाड-प्यार, दुलार के साथ-साथ उसकी निम्न दशा का भी बोध छिपा हुआ है। समाज में अत्यन्त सामान्य जीवन जीने वाला 'हंसा' एक दिन 'बाबा' और अन्य लोगों के साथ 'मजगवां का दंगल' देखकर लौट रहा था कि रास्ते में एक तो रात, दूसरे रतौंधी होने के कारण एक बूढ़े की बहू से टकरा गया। वह चीख उठी, उसके ससुर ने लोगों को दौड़ा दिया। लोग किसी तरह भागते-दौड़ते आगे निकल गये, बाद में गिरते-पड़ते 'हंसा' भी अपना प्रिय गीत गाता हुआ पहुँचा। लोगों ने उसकी बड़ी खिल्ली उड़ायी। मगनू ने कहा- 'सरऊ सांड़ हो रहे हो, अब मरद-मेहरारू में भी तुम्हें भेद नहीं दिखाई पड़ता।' उसने बड़ी मासूमियत और सच्चाई से उत्तर दिया- 'नाहीं भाय, जब ठोकर खाकर गिरने को हुए न, मैंने सहारे के लिए उसको पकड़ लिया। फिर जो मालूम हुआ, तो हकबका गया। तभी बुढ़वा ने एक लाठी जमा दी। खैर कहो, निकल भागा।' मगनू ने फिर करारा व्यंग्य किया– 'चलो मेहरारू तो छू लिया, ससुरे की किस्मत में तो लिखी है, नहीं।' 'हंसा' के इस दुर्भाग्य से पूरा गाँव वाकिफ है, सब लोग उसके प्रति सहानुभूति रखते है, उसका मजाक उड़ाते हैं और उसी से बात-व्यवहार करके तरह-तरह से मनोरंजन करते हैं। बच्चे भी उसे 'हंसा दादा' कहकर चिढ़ाते हैं। जब वह कुर्ता पहन कर निकलता है तो 'गाँव के लड़के उसी तरह उसका पीछा करने लगते हैं, जैसे किसी भालू का नाच दिखाने वाले मदारी का।' लड़के कहते हैं- 'हंसा दादा दुलहा बने है, दुलहा।' और नन्हें-नन्हें चूहों की तरह उसके शरीर पर रेंगने लगते हैं। कोई चुटिया उखाड़ता है, तो कोई कान में पूरी की पूरी उँगली डाल देता है। कोई लकड़ी के टुकड़े से नाक खुजलाने लगता है तो कोई उसकी बड़ी-बड़ी छातियों को मुँह में लेकर 'हंसा माई हंसा माई का नारा लगाने लगता है।' लोगों और बच्चों के बीच इस तरह हँसी और उपहास का पात्र बना 'हंसा' 'बाबा' के पास इसलिए बराबर उठता-बैठता है। क्योंकि वहाँ 'देश-विदेश' 'रामायण-महाभारत' और 'गन्ही महात्मा' की बात होती है और उसमें इन सबमें गहरी दिलचस्पी है। गाँव-गिराँव में हँसी का पात्र बना, 'हंसा' गाँधी का भक्त हैं

और जब उसे पता चलता है कि कांग्रेस का प्रचार करने के लिए सुशीला बहन आ रही है, तो वह ढोलक बजा-बजाकर लोगों को न केवल सूचना देता है बल्कि अच्छी-खासी भीड़ एकत्र कर लेता है। सुशीला जी ने जोशीला भाषण दिया। ग्राम मंडली ने मार्मिक गीत गाया— 'बिन बिद्या के भारत देश, दिन-दिन तेरी ख्वारी रे।' कीर्तन-प्रवचन सुनकर हंसा देर तक खोया बैठा रहा।

रात में हंसा के घर पर भोज हुआ। पूड़ी तरकारी बनी। जब पूड़ी बनाने के लिए घी की तलाश शुरू हुई तो हंसा ने सुशीला की मदद की। इसी तलाश में रतौंधी के कारण हंसा सुशीला से टकरा गया और फिर दोनों अंधेरे में परस्पर ऐसे लुढ़के कि 'कभी वह लुढ़कता है, कभी वह लुढ़कती है' वाली हालत हो गई और सबेरे अंगनू ने हल्ला मचा दिया— 'उलट दिया हंसवा ने कल रात।' इस घटना से हंसा और सुशीला में अंतरंगता कायम हो गयी, और क्यों न कायम होती— एक बिना मेहरारू का था और दूसरी विधवा थी।

सुशीला से अंतरंगता हो जाने के कारण चुनाव में हंसा की गहरी रूचि हो गयी। उसने जनता में कांग्रेस का इस तरह प्रचार किया कि कांग्रेस जीत गई और राजा साहब हार गये। यह सुशीला के साथ-साथ हंसा की बड़ी उपलब्धि थी किन्तु इस उपलब्धि के बावजूद हंसा की जिन्दगी में खुशहाली न आ सकी। चुनाव के दौरान ही सुशीला को निमोनिया हो गया। हंसा ने बड़ी दौड़-भाग की, खूब सेवा की किन्तु सुशीला को वह बचा न सका। हंसा के लिए यह बहुत बड़ा हादसा था। उसका दिल टूट गया। वह पागलों की तरह हंसने लगा। उसका मकान ढह गया, खेत में घांस उग आई और वह इधर-उधर घूमते-फिरते पागल सा गाने लगा— 'हंसा जाई अकेला।' हंसा अकेला पैदा हुआ। जीवन भर अकेला रहा और दो के साथ जीने की उम्मीद बँधी ही थी कि फिर अकेला हो गया— इस संसार में अकेला और इस संसार से अकेला जाने वाला भी।

6.4 कथा-संरचना

इस कहानी को मार्कण्डेय ने बड़ी सावधानी से बुना है। कहानी के केन्द्र में है हंसा की व्यथा-कथा जो समाज का बड़ा ही सामान्य, उपेक्षित और एक तरह से अभागा प्राणी है। इसी अभागे मनुष्य का सहानुभूतिपूर्ण एवं करूण चित्र प्रस्तुत करने के लिए मार्कण्डेय ने कहानी का ताना-बाना बुना है। कहानी के आरम्भ में ही हमारा परिचय उस हंसा से होता है जो अक्सर लोगों के हँसी मजाक का विषय बना रहता है किन्तु जैसे-जैसे कहानी आगे बढ़ती है, हंसा का चित्र समाज के एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली व्यक्ति के रूप में उभरने लगता है। कांग्रेस की प्रचारिका सुशीला के गाँव में आने के साथ ही कहानी व्यक्ति के यथार्थ से विस्तृत होकर राजनीतिक यथार्थ से बड़े स्वभाविक ढंग से जुड़ जाती है और हंसा सामान्य व्यक्ति के स्तर से उठकर एक प्रभावशाली कार्यकर्ता बन जाता है। वही सभा जुटाता है, रामलीला को नया अर्थ देता है और चुनाव में कांग्रेस की विजय सुनिश्चित करता है। इन्हीं प्रसंगों के बीच हंसा की व्यक्तिगत जिन्दगी भी एक नया अर्थ पाती हुई चित्रित होती है— लगभग उसके अभागेपन को मिटाती हुई— किन्तु दुर्भाग्य यह कि जब हंसा अपने जीवन की सार्थकता पा रहा होता है तभी उसकी जिन्दगी का हिस्सा बन चुकी सुशीला बहन का देहान्त हो जाता है। हंसा की सारी दौड़-धूप व्यर्थ हो जाती है और उस पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है। वह चुनाव की सफलता के बावजूद अपने गम में पागल हो जाता है। इस तरह हास-परिहास के मनोरंजन वातावरण से शुरू हुई हंसा की कहानी समाज-राजनीति के यथार्थ से होती हुई करूणा के उस बिन्दु पर समाप्त हो जाती है जहाँ सारी चीजे व्यर्थ लगने लगती है और पाठक हंसा की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के शोक में डूब जाता है। कहानी के आरम्भ में जब हंसा गाता था 'हंसा जाई अकेला,

ई दोहिया न रही' तब निर्वेद नहीं, जीवन-राग जगता था किन्तु कहानी के अंत में जब वह 'हंसा जाई अकेला' गाता फिरता है तब दुःख, करूणा और अवसाद छा जाता है और हंसा का पूरा जीवन संघर्ष एक दुखद अध्याय बन कर रह जाता है।

कहानी के आरम्भ में रोचकता, सरसता और दृश्यात्मकता है। वह उतरोत्तर गंभीर होती जाती है। राजनीतिक घटना-चक्र के बीच में आने के बावजूद कहानी राजनीतिक नहीं होती है बल्कि हंसा के व्यक्तित्व को ही वह एक नया रंग दे देती है। इसी तरह रामलीला प्रसंग भी हंसा के ही व्यक्तित्व को उभारता है। अभिप्राय यह कि कहानी के भीतर आये हुए प्रसंग मूल कथा को अधिक मार्मिक और प्रभावोत्पाठक बनाते हैं। और 'हंसा जाई अकेला' की दुखद परिणति को सार्थक रूप से और दुखद बना देते हैं।

नयी कहानी आन्दोलन के दौरान कहानीकारों और समीक्षकों ने कहानी के नये रूप-विधान और गठन पर विस्तार से विचार करते हुए यह स्थापित किया है कि नयी कहानी में कथा का न तो स्थूल चित्रण होता है, न ही उसके अन्य पारम्परिक तत्त्व अपनी अलग सत्ता बनाये रखते हैं बल्कि वे सब परस्पर गुँथे हुए एकान्विति का सौन्दर्य उपस्थित करते हैं। यही विशेषता कहानी में प्रभावान्विति को संभव बनाती है और यथार्थ की संशलिष्ट अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ उदाहरण बन जाती है- 'हंसा जाई अकेला' कहानी। इस कहानी का छोटा-बड़ा हर प्रसंग हंसा के जीवन और व्यक्तित्व को इस तरह रेखांकित करता है कि उससे हंसा और उसके आस-पास का यथार्थ एक साथ रूपायित हो जाता है। हंसा से राजनीतिक गतिविधि को गति मिलती है और राजनीतिक गतिविधि से हंसा को एक पहचान मिलती है।

यह कहानी अंत में एक मार्मिक प्रभाव छोड़ती है। इस प्रभाव-सृष्टि के लिए मार्कण्डेय ने कहानी के तन्तुओं को बड़ी बारीकी से बुना है और संवेदना को उत्तरोत्तर घनीभूत किया है। उनके इस कौशल में मदद की है छोटे-छोटे रस भरे चुटीले और व्यंग्यपूर्ण संवादों ने। छोटे-छोटे संवादों से कहानी गतिशील होती रही और उससे सरसता का संचार भी होता रहा। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'हंसा जाई अकेला' कहानी की कथा इस से परिपूर्ण है और उसमें कहानीपन भी मौजूद है।

6.5 कहानी का शीर्षक

कहानी का शीर्षक निर्गुन पद की एक पंक्ति से निकला है जो निर्वेद भाव को उद्दीप्त करता है किन्तु हंसा इसे जिस तरह गाता रहता है उससे जिन्दगी को सार्थक करने का स्वर गूँजता है। भउजी जब उसे समझाती है, 'अब हंसी-ठिटोली छोड़कर, बियाह करो। जब तक देह कड़ी है, दुनिया जहान है, नहीं तो रोटी के भी लाले पड़ जायेंगे। कहते क्यों नहीं अपने भइया से ? गूँगें-बहरे, कुत्ते, बिल्ली, सबका तो बियाह रचाते रहते है, पर तुम्हारा बियाह नहीं करते। खेत, जगह, जमीन सब तो है।' तब रात के सन्नाटे में हंसा के कानों में भउजी की बातें गूँजती है, वह करवटें बदलता है और अपने जीने का अर्थ भी तलाशने लगता है। यही तलाश उसे जिन्दादिल और कर्मठ बनाती है किन्तु कहानी के अन्त तक आते-आते 'हंसा जाई अकेला' शीर्षक निर्वेद की धनीभूत अभिव्यक्ति बन जाता है। जीवन-राग से जीवन-विराग के बीच के तनाव को रेखांकित करता है यह शीर्षक और उसे सार्थक करती है, 'हंसा जाई अकेला' कहानी।

6.6 हंसा का व्यक्तित्व : साधारण भी और अनूठा भी

पूरी कहानी में जो पात्र पूरी तरह से जीवन्त रूप में उपस्थित रहता है वह है हंसा। हंसा समाज का एक साधारण व्यक्ति है किन्तु वह जितना साधारण है उतना ही अनूठा और अर्थवान भी है। साधारण तो इतना है कि सब उसका मजाक उड़ाते हैं– बूढ़े, बच्चे सब किन्तु वह किसी की बात का बुरा नहीं मानता है। कहानीकार लिखता है- 'हंसा' गालियों का बुरा नहीं मानता। बहुत सारे काम गाली सुनने के लिए ही करता है। गाँव के बूढ़े, व बुजुर्गों को की इस दुआ से उसे मोह है।' यानी बूढ़े, बुजुर्गो की गाली को वह दुआ मानता है और बच्चे जब उसे 'हंसा दादा दूलहा बने हैं, दूल्हा' कहते हुए उसके शरीर पर नन्हें-नन्हें चूहों की तरह रेंगने लगते है उसके कान में उँगली घूसा देते है, उसकी छातियों को मूंह में भरकर 'हंसा माई, हंसा माई' का नारा लगाने लगते है, तब भी वह बुरा नहीं मानता है और उनके अनुरोध पर 'हंसा जाई अकेला' निर्गुन बड़े मन से गाता है। यह हंसा की साधारणता हैं और इसी साधारणता से वह बच्चों, बूढ़ों के दिलों में बसता है।

हंसा के बाह्य रूप-रंग का चित्र खीचते हुए लेखक ने लिखा है- 'हंसा काला चिट्टा तगड़ा आदमी है। उसके भारी चेहरे में मटर-सी आँखें और आलू-सी नाक उसके व्यक्तित्व के विस्तार को बहुत सीमित कर देती है। सीने पर उगे हुए बाल किसी भीठ पर उगी हुई घास का बोध कराते हैं। घुटने तक की धोती और मारकीन का दुगज्जी गमछा उसका पहनावा है। अपनी इसी कद-काठी और सामान्य रहन के कारण ही वह लोगों के हास-परिहास का विषय बनता है। उसके पास खेती-बारी है, बलिष्ठ शरीर है, घर-दुआर है लेकिन दुर्भाग्य यह कि उसका विवाह नहीं हुआ। बाबा सच ही कहते हैं– 'पर एक मेहरारू के बिना बिलल्ला की तरह घूमता रहता है।' उसके उस बिल्लेपन का ही लोग मजाक उड़ाते है। रात में मजगवाँ दंगल से लौटते समय रतौंधी के कारण वह एक बूढ़े की बहू से टकरा गया। मगनू कहने लगे, 'चलो मेहरारू तो छू लिया, ससुरे की किस्मत में लिखी तो है नहीं।'

भले ही हंसा बिना मेहरारू के हो, किन्तु उसमें मान-मर्यादा, दया, लाज भरपूर है। वह मानता है कि बूढ़े की बहू से टकराने में उससे गलती हुई है 'होई गई गलती भइया। मैं का जानू कि मेहरिया है। समझा, तुम में से कोई रूक गया है।' उसे अपनी गलती का एहसास है उससे ज्यादा चिन्ता यह है, 'क्या सोचती होगी बेचारी' हंसा की यह चिन्ता उसे बड़ा बनाती है और उसके व्यक्तित्व को निखारती है। साथ ही जब वह बाबा से कहता है, 'बड़ी चूक हो गयी, भइया। समझो, निकल भागे किसी तरह, नहीं तो जाने क्या कहती दुनिया? हमें तो यही सोचकर और लाज लग रही थी कि तुम भी साथ थे।' तब वह अपने मूल्यजीवी होने का पता देता है। यह है सामान्य आदमी की बड़ी मूल्य-निष्ठा और उसकी सामान्यता के बीच उसका अनूठापन। उसे जितनी चिन्ता अपने मान-अपमान की है उससे ज्यादा बाबा की प्रतिष्ठा की चिन्ता है– 'यही कि आपके साथ ऐसे लोग रहते है। कितना नाव गाँव है। कितनी हंसाई होती।' इस धारणा और भावना से हंसा का कद और ऊँचा हो जाता है।

हंसा भले अविवाहित हो, किसी औरत को कभी न छुआ हो लेकिन वह बाबा की सी मर्यादा का निर्वाह करता है। बूढ़े की बहू से टकराने पर वह पश्चाताप करता हुआ अपने अन्तर्गत मन में कहता है– 'जान-बूझकर तो कुछ किया नहीं। हम तो भइया की तरह मेहरारू को आँख उठाकर भी नहीं देखते। यह रतौंधी साली जो न कराये।' पराई औरत पर निगाह न डालना उसके मर्यादावादी होने का प्रमाण है। इस मर्यादा का वह भरसक

निर्वाह करता लेकिन एक बार सुशीला जी के गाने को सुनकर उसका मन जरूर मथने लगा था- 'हंसा खो गया। सुशीला का साल-भर पहले का गाना, 'जागा हो बलमूआ गाँधी टोपी वाले आय गइलें.....' उसके होठों पर थिरक उठा। साँवला-साँवला सा रंग था, लम्बा बाल छटहरा बदन, रूखे से बाल और तेज आँखें। कैसा अच्छा गाती थीं। हंसा सोचता रहा।' इसीलिए जब दुबारा सुशीला जी चुनाव-प्रचार के लिए आई तब हंसा ने सारा जिम्मा अपने सिर पर ले लिया-लोगों को बटोरने और रात में भोजन कराने तक की व्यवस्था उसी ने की। सुशीला जी का कीर्तन-प्रवचन का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। हंसा उनकी मधुर आवाज में खो गया– 'खंजड़ी की डिम-डिम और झाँझ की झंकार उसके कानों में गूँजती रही। सुशीला का पैना स्वर उसके हृदय को बेधता रहा।' इस राग-दीप्ति का परिणाम यह हुआ कि रात में जब सुशीला के साथ अंधेरे में घी ढूंढ़ते हुए वह चारपाई से ठोकर खाकर गिर पड़ता है और सुशीला जी उसे उठाकर आगे चलती हैं तब वह रोमैण्टिक अनुभूति से भर जाता है– 'मेनका के कंधे पर विश्वामित्र के उलम्ब बाहु। सावन की अँधियारी और बादलों की रिमझिम। बीच-बीच में हवा का सर्द झोंका' इसका परिणाम वही हुआ जो होना था– 'घर की अँधेरी भंडरिया। दोनों भटकते हैं। हंसा कुछ बताता है। सुशीला जी कुछ सुनती है। आँखें कुछ देखती हैं। हाथ कुछ टटोलते हैं। बहरहाल पता नहीं कहाँ क्या है' दोनों को सहारा चाहिए। कभी वह लुढ़कता है, कभी वह लुढ़कती है और दोनों दृष्टिवान हो जाते हैं– दिव्य दृष्टिवान।' सुशीला और हंसा प्रेम-दृष्टि पा जाते हैं, थोड़ी देर के लिए ही सही, दोनों की जिन्दगी सार्थक हो जाती है। मगनू के शब्दों में 'लग गई पार हंसवा की नाव।' हंसा प्रेम से सराबोर होकर सुशीला जी का हो जाता है और उनके बीमार होने पर वह उनकी जैसी सेवा करता है, उससे उसका प्रेमी रूप सार्थक हो जाता है। हंसा सुशीला को कितना चाहता था, उसका पता इससे चलता है कि उनके निधन के बाद वह पूरी तरह पागल हो जाता है। सुशीला के निधन से उसके सपनों का महल एकदम ढह गया। उसके खेत में घास उग आयी, मकान ढह गया और वह पागलों-सी हँसी हँसता हुआ कभी गंदे कागजों को दीवारों पर साटता और कभी सारे गाँव की गलियाँ साफ करता और 'हंसा जाई अकेला' गाता रहता। वह हर चीज से उदासीन और बेखबर हो गया लेकिन उसने तीन चीजें नहीं छोड़ी- एक लग्गी में लगा फटा तिरंगा, दूसरी सुशीला का दिया हुआ बिगुल, तीसरी- आजादी लेने की कसमें। एक तरह से ये तीनों चीजें उसे सुशीला के संपर्क से मिली थीं। सुशीला के साथ-साथ वह इन तीनों का दीवाना हो गया था। हंसा एक कर्मठ राजनीतिक कार्यकर्ता भी था। उसी की कर्मठता और दौड़-धूप से कांग्रेस को चुनाव में जीत मिली। वह आजादी और महात्मा गाँधी का दीवाना था। खद्दर का कुर्ता-धोती पहनकर और लाठी में तिरंगा बाँधकर बिगुल बजाते हुए उसने घर-घर बापू के संदेश की पर्ची बाँटी थी और लोगों से कहा था- 'कांगरेस तुम्हारे राज के लिए लड़ती है। बेदखली बन्द होगी। छुआछूत बंद होगा। जनता का राज होगा। एक बार बोलो– गन्हीं महात्मा की जय।' हंसा की राजनीतिक सक्रियता और गाँधी - भक्ति से 'मैला आँचल' के बालदेव की याद ताजा हो जाती है। सुशीला और हंसा का प्रेम-प्रसंग भी बालदेव और लछमी कोठरिन के प्रेम-संबंध की एक हल्की झलक दे देता है।

6.7 अन्य चरित्र

'हंसा' के अतिरिक्त अन्य चरित्र केवल सामान्य भूमिका में दिखायी पड़ते हैं। वे थोड़ी देर के लिए पानी के बुलबुले की तरह प्रकट होते हैं और पल भर में अन्तर्धान हो जाते हैं लेकिन उनकी क्षणिक उपस्थिति कहानी को एक नया स्वाद, नयी गति से भर देती है। बाबा और सुशीला ही 'हंसा' की जीवन-कथा के साथ दूर तक चलते हैं। बाबा दंगलबाज हैं, वे पहलवानों के सरताज हैं और 'हंसा' उनका मुरीद है। उन्हीं के आस-पास मँडराता

है, उनकी तेल-मालिश करता है और वक्त-बेवक्त उन्हीं के घर भोजन भी कर लेता है। उन्हीं के दालान में देश-विदेश की बातें होती हैं, रामायण-महाभारत पर प्रवचन होता है और 'गन्ही महात्मा' की जय बोली जाती है। वे हंसा को बहुत मानते हैं और हंसा भी उन्हें काफी मान-सम्मान देता है। जब रात में सुशीला के साथ हंसा की उलट-पलट हो गयी तब बाबा ने दूसरे दिन उससे कहा– 'हंसा ! जहाँ पहुँच गये हो वहाँ से वापस नहीं आना होगा।' हंसा ने संकल्प-बद्ध होकर कहा– 'भइया, बोटी-बोटी कट जाऊँगा, पर यह कैसे हो सकता है।' कहना न होगा कि हंसा के पीछे बाबा का बहुत बड़ा हाथ था। गाँवों में इस तरह दूसरों को, खासकर कमजोरों, असहायों को बल देने वाले अब कम होते जा रहे हैं।

इस कहानी में दूसरा महत्वपूर्ण पात्र है– सुशीला। वह एक विधवा स्त्री है और कांग्रेस की प्रचारिका-सांवला रंग लम्बा छरहरा बदन, रूखे रूखे बाल, तेज आँखें और गन्ने के ताजे-रस सी/मीठी आवाज। इसी आवाज पर तो हंसा मुग्ध हो गया था। सुशीला प्रभावशाली वक्ता, मधुर गायिका और कर्मठ राजनीतिक कार्यकर्त्री हैं। उन्हीं के प्रभाव से कांग्रेस को चुनाव में विजय मिलती है। चुनाव के समय यद्यपि वे निमोनिया से पीड़ित होकर बिस्तर पर पड़ी थीं लेकिन जब 'किसानों की जय-जयकार करती हुई टोलियाँ गुजरतीं है तो वह अपने बिस्तर पर तड़प कर रह जातीं। हंसा उन्हें बहुत रोकता, पर वह उठकर उनसे मिलतीं। बाबा बहुत समझाते, पर न मानतीं।' यही नहीं 'चुनाव के दिन डोली में उठाकर वह पोलिंग पर ले जाई गयीं। वहीं पेड़ के नीचे बैठे-बैठे उन्हें कई बार चक्कर आया और बेहोश हो गयीं।' यह उनकी कर्मनिष्ठा और संघर्ष-शक्ति का प्रमाण है।

सुशीला के मन में हंसा के प्रति उतना ही प्रेम है जितना हंसा के मन में सुशीला के प्रति। यह दोनों के अभाव की पूर्ति का परिणाम है। सुशीला को उस समय बहुत दुःख होता जब लोग सुशीला और हंसा के प्रकरण का हवाला देकर उन्हें चुनाव क्षेत्र वापस बुलाने का अनुरोध करते हैं। परिणाम स्वरूप चुनाव के दो दिन पूर्व उन्हें प्रचार-कार्य से अलग कर दिया जाता है। काम से अलग किये जाने की नोटिस पाकर 'वह हँस पड़ी थीं' और दुःख भरे स्वर में कहा– 'ईश्वर ने पति से अलग किया और अब बापू के नकली चेले उन्हें जनता से अलग करना चाहते हैं।' इसी जनता में उनका 'हंसा' भी है जिसके 'चौड़े सीने पर उगे हुए बालों के जंगल में वह खो जाती हैं।' जनता से अलग होने के दर्द में ही यह मर्मांतक पीड़ा भी छिपी हुई है– विधाता की निष्ठुरता और लोगों की निष्ठुरता एक जैसी है।

6.8 परिवेशगत यथार्थ

'हंसा जाई अकेला' ग्रामीण जीवन-यथार्थ की मार्मिक कहानी है इसमें अन्तर्भुक्त है राजनीतिक यथार्थ। मार्कण्डेय के पास ग्रामीण जीवन का न केवल यथार्थनुभव है बल्कि उनका मन उसके रंग और स्वाद से रंगा और भरा हुआ है। इसी विशेषता के कारण वे 'हंसा' जैसे चरित्र को जीवन्त रूप में चित्रित कर सके और उसी के कारण ग्रामीण जीवन को भी साकार कर सकें। कहानी के आरम्भ में ही मार्कण्डेय ग्रामीण जीवन-बोध को बड़ी सरसता के साथ उपस्थित कर देते हैं– 'समझाते-समझाते उमिर बीत गई, पर यह माटी का माधो ही रह गया। ससुर मिलें तो कसकर मरम्मत कर दी जाए आज।' इसके बाद कहानी के जो भी दृश्य सामने आते हैं वे ग्रामीण-संवेदना और बोध से परिपूर्ण हैं। लोगों की बोली-बानी - व्यवहार, हँसी-ठिठोली आदि से गाँव/का रूप रंग साकार होता रहता है। बाबा के दालान का सच खींचते हुए लेखक गाँव के परिवेश को सजीव कर देता है

- 'उस दिन दालान में कोई नहीं था। शाम का वक्त था। बाबा की चारपाई के पास बोरसी में गोहरी सुलग रही थी। जानवर मन-मारे अपनी माँदों में मुँह गड़ाये थे। रिमझिम पानी बरस रहा था। कलुआ पाँवों से पोली जमीन खोदकर, मुकुड़ी मारे पड़ा था। बीच-बीच में जब कुटकियाँ काटतीं, तो वह कूँ..... कूँ..... करके, पाँवों से गर्दन खुजाने लगता।' यह है गाँव की भाषा में गाँव को साकार करना। आजादी के बाद हिन्दी कहानी में 'गाँव' अपनी पूरी अस्मिता के साथ जगमगा उठा। इस कहानी को पढ़ते हुए हमारा पुराना गाँव साकार हो उठता है। नामवर सिंह ने बहुत सही लिखा है कि 'गाँव की जिंदगी पर कहानियाँ भी लिखी जाती थीं लेकिन जिस आत्मीयता के दर्शन मार्कण्डेय की कहानियाँ में होते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है।'

इस ग्रामीण यथार्थ का एक रंग है राजनीतिक चहल-पहल। यह कहानी आजादी मिलने के पहले की राजनीतिक हलचल की पृष्ठभूमि में लिखी गई है। उस समय लोग कांग्रेस और आजादी के दीवाने थे। सुशीला के माध्यम से कहानी में राजनीतिक रंग पैदा होता है। हंसा की सक्रियता से वह कहानी के मूलरस में घुल मिल जाता है। चुनाव की सरगर्मी, चहल-पहल, भजन-कीर्तन कर के लोगों को जगाना, वोट डालने के लिए प्रेरित करना, मतदान के समय की कारगुजारियाँ, चालाकियाँ आदि सब दृश्यात्मक रूप में प्रत्यक्ष हो जाती हैं किन्तु यह सब कहानी की मर्यादा के अनुरूप ही हुआ है– कुछ स्पष्ट, कुछ सांकेतिक और कुछ अर्थगर्भित ढंग से। 'नयी कहानी' में परिवेश अलग से चित्रित न होकर कथ्य का अभिन्न अंग बनकर प्रस्तुत हुआ है - कथा को गति और अर्थ देता हुआ। इस कहानी में मार्कण्डेय ने इस कला को सार्थक ढंग से प्रमाणित किया है।

मार्कण्डेय ने जिस तरह ग्रामीण यथार्थ को रूपायित किया है उसी तरह राजनीतिक यथार्थ-विशेष कर चुनाव, चुनावी राजनीति, चुनावी हथकंडे आदि - को भी सारगर्मित ढंग से प्रस्तुत किया है। सुशीला के बढ़ते प्रभाव को देखकर विपक्षीदल हंसा-प्रसंग की आड़ लेकर जनता को भड़काते हैं और उन्हें प्रचार कार्य से विरत करने की नोटिस दिला देते हैं, दूसरी तरफ 'हंसा' भी मतदान के समय लोगों को सिखाता है– 'बाबू साहब जो कहें मान लो। पूड़ी-मिठाई राजा के तम्बू में खाओ। खरचा-खोराक बाबू साहब से ले लो और मोटर में बैठो! लेकिन कांग्रेस का बक्सा याद रखो।' चुनाव की ओछी राजनीति का एक चित्र यह भी है -

'गाँव में चुनाव की धूम मची थी। बाबू साहब बभनौटी के साथ कांग्रेस का विरोध कर रहे थे। उनके पेड़ों पर इश्तहार टांग दिये जाते, तो उनके आदमी उखाड़ देते। किसान बुलवाये जाते, उन्हें धमकाया जाता। खेत निकाल लेने की, जानवरों को हकवा देने की बात कही जाती और हंसा-सुशीला की कहानी का प्रचार किया जाता- भ्रष्ट हैं सब! इनका कोई दीन धरम नहीं है ...... गन्ही तो तेली है।' संकेत रूप में यह हमारे जनतंत्र का वह यथार्थ है जिसका आगे कई रूपों में प्रसार हुआ।

मार्कण्डेय ने कहानी में राजनीतिक रंग पैदा करने और उसे रोचक बनाने के लिए रामलीला प्रसंग को भी सार्थक ढंग से मोड़ा है। रामलीला में हंसा का रावण बनना, लक्ष्मण का ठोकर लगकर गिरना, राम को उल्टी आना और जनता की फौज का जीत जाना भी साभिप्राय है। कांग्रेस जनता की पार्टी है। इसमें विराहिम, कालू, भुलई, फेद्दर सभी हैं, यह जनता की लड़ाई है। चुनाव में यह जनता अपनी लड़ाई जीत जाती है पर राक्षसी सेना बन कर। इस लड़ाई से 'राम बेचारा अकेले बैठे रह गये। रामायण बंद हो गई। तिवारी चिल्लाने लगा, पर कौन सुनता है?'' लेखक भारतीय राजनीति के आगामी चरित्र को रेखांकित कर रहा है। रावण बने हंसा को सुशीला डाँटती हैं - 'यही स्वयंसेवक

हो! बदनाम करते हो झंडे को। बंद करो यह सारा तमाशा, होने दो रामलीला ठीक से।' पर हम सभी जानते हैं कि आजाद भारत में राजनीति के मंच पर न यह तमाशा बन्द हुआ और न ठीक से रामलीला हुई। 1956 में मार्कण्डेय रेणु की तरह भारतीय राजनीति का सही आकलन कर रहे थे। कहानी वही नहीं अच्छी होती जो यथार्थ को दिखाती है, वह ज्यादा अर्थवान होती है जो भविष्य के सच को संकेतित करती है। आजादी के बाद आजादी के दीवानों को राजनीतिक पीड़ित बनाकर उनके तप, त्याग, बलिदान का जो मूल्य चुकाने का नाटक किया गया, वह हंसा के साथ किये गये बर्ताव का ही विस्तार है - 'आजादी मिली, तो उसे रूपये मिले। राजनीतिक पीड़ित था वह।' कहानीकार ने इस बर्ताव का सटीक उत्तर दिया है हंसा के माध्यम से - 'पर वह रूपयों की गड्डी लेकर हँसता रहा, और फिर उन्हें गाँव की दीवारों में एक-एक कर टांग आया।' शायद वह कह रहा था- 'नहीं चाहिए आजादी की लड़ाई की यह कीमत।' हंसा की व्यक्तिगत ट्रैजेडी में यह राजनीतिक प्रहसन् एक नये दंश की तरह चुभता है।

6.9 भाषा-शैली

नयी कहानी आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही कि उसका कथ्य जिस जीवन-यथार्थ से उद्भूत रहा, उसकी अभिव्यक्ति के लिए भाषा शैली भी उसी क्षेत्र से ग्रहण की गई। इससे कथ्य की विश्वसनीयता और प्रामाणिकता अनुभूत यथार्थ के रूप में अभिव्यक्त हुई। 'हंसा जाई अकेला' ग्रामीण यथार्थ से उद्भूत एक सामान्य व्यक्ति की कहानी है जो गाँव की जिन्दगी में काफी रचा-बसा है। मार्कण्डेय ने ग्रामीण यथार्थ और संवेदना को रूपायित करने के लिए, पाठक के चित्त में गाँव का पूरा बिम्ब आलोकित करने के लिए साहित्यिक खड़ी बोली को ग्राम्य भाषा की सरसता, उसकी शब्दावली और मुहावरे आदि से समृद्ध करके आत्मीय और प्रभावशाली बना दिया है। लोक-रस और रंग में डूबी हुई यह भाषा बड़ी जीवन्त है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं -

1. 'मगनू ने कहा - 'सरऊ सांड हो रहे हो, अब मरद-मेहरारू में भी तम्हें भेद नहीं दिखाई पड़ता।'
2. 'कुछ न कहो भउजी!' हंसा कह ही रहा था कि बाबा बोल उठे, 'फंसी गया था हंसवा आज, वह तो खैर मनाओ, बच गया, नहीं तो वह पड़ती कि याद करता।'

ग्रामीण जीवन के यथार्थ को बिम्बात्मक ढंग से उपस्थित करने वाले शब्दों से इस कहानी की भाषा काफी व्यंजनापूर्ण और प्रभावशाली हो गई है। 'नाही भाय', 'हकबकाना', 'मेहरारू', 'ससुरा', 'सरवा', 'भीट', 'चिल्लर', 'घर-दुआर', 'भउजी', 'डुड़वार डाकना', 'माटी का माधो', 'बियाह', 'घियान', 'ओर उती', 'रतौन्ही', 'गन्ही महात्मा', 'कुटकियाँ', 'गोड़वारी', 'तनी बाँचदो', 'गवनई', 'छुआ-छिरका', 'पूड़ी ऊड़ी', 'पानी बूनी', 'निरूआही', आदि लोक भाषा के शब्दों से समृद्ध कथा-भाषा लोक का तो परिचय कराती ही है, भाषा में लोक-संवेदना और लोक-रस को भी घोल देती है। मार्कण्डेय की कथा भाषा में खड़ी बोली और लोक भाषा के बीच इतनी घनिष्ठता कायम हो गयी है कि खड़ी बोली का खड़ापन एकदम गायब हो गया है और सामान्यजन की भाषा का नया रंग उभर आया है। एक उदाहरण काफी होगा- 'कुछ न पूछो, भईया ! तुम्हें खबर ही नहीं, सारे गांव में रात ही खबर फैल गयी। वह ससुरा दुआरे बैठने के लायक नहीं है। कहते थे कि कोई राड़-बेवा मढ़ दो उसके गले। कल रात बाबू साहब के यहां पंचायत हुई। तय हुआ कि कोई अब सभा-सोसाइटी की चौकी गांव में नहीं धरी जायेगी। औरत-सौरत का शासन यहां नहीं होने पायेगा। बहू-बेटियों पर खराब असर पड़ता है। बात यह भईया कि राजा साहब ओट लड़ रहे हैं, कांग्रेस के खिलाफ।'

'हंसा जाई अकेला' की भाषा इतनी सहज, स्वाभाविक और अर्थगर्भी है कि वह पाठक के चित्त पर सीधा असर करती है। न तो शब्दों का आडंबर है, न विस्मित करने की कला। यथार्थ को सरल-सीधे ढंग से संप्रेषित करने और उसके बिम्ब को जीवन्त रूप में प्रस्तुत करने का वह कौशल जरूर है जो किसी लेखक में सादगी का सौन्दर्य रचने की क्षमता के बाद पैदा होता है। मार्कण्डेय की भाषा - शैली प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाती हुई नया रंग और कथा में नया स्वाद पैदा करती है।

रेणु की तरह मार्कण्डेय भी लोकगीतों से कहानी को लोकरस से समृद्ध करते हैं। 'हंसा जाई अकेला' के अलावा उन्होनें 'जग बेल्ह मौलू जुलुम कइलू ननदी' और 'जागा हो बलमुआ गाँधी टोपीवाले' जैसे गीतों का स्वाभाविक प्रयोग करके कहानी को काफी सरस और रोचक बना दिया है। ये गीत कहानी के सच को नया अर्थ देते हैं और कथा-संवेदना को गाढ़ा भी कर देते हैं। दरअसल मार्कण्डेय कहानी कहते नहीं हैं, उसे दिखाते हैं, मंच पर हो रहे नाटक की तरह। 'हंसा जाई अकेला' कहानी वास्तविकता को नई ग्रहण-शीलता के साथ जिंदगी की नाटकीयता का प्रत्यक्ष बोध कराती है।

6.10 सारांश

'हंसा जाई अकेला कहानी मार्कण्डेय की जनपक्षधरता का उदाहरण है। मार्कण्डेय समाज के उस अंतिम व्यक्ति के साथ खड़े हैं जो श्रमजीवी और निश्छल है। 'हंसा' के प्रति उनमें अपार करूणा है, वह उनकी सहानुभूति का आलम्बन है। यह कहानी यह दिखाती है कि जिस सामान्य व्यक्ति को लोग अर्थहीन, उपेक्षणीय और हास - परिहास का पात्र समझते हैं, वह भले ही भाग्य का मारा हो, लेकिन अपनी मेहनत और जज्बात में सच्चा है। वह राजनीति के दंगल में भी निर्णायक भूमिका निभाता है। यह कहानी 'लघु मानव' को प्रतिष्ठास्पद बनाती है और उसी के साथ आजाद भारत के राजनीतिक चरित्र को भी उद्घाटित करती है। भले ही 'हंसा' का यह सच हो कि वह अकेला जायेगा, (वैसे यह तो सबका सच है) और देश-दुनिया में उसका कोई नहीं है लेकिन कहानी की सफलता यह है कि वह पाठक में हंसा के प्रति गहरी सहानुभूति और लगाव पैदा कर देती है। हंसा का पागलपन पाठक की चेतना को झंकृत कर देता है और उसकी आत्मीय छवि उसके चित्त पर छा जाती है। हंसा अपनी लघुता में भी महान हो जाता है। यह कहानी मनुष्यता का पोषण करती है और मानवीय संवेदना को प्रगाढ़ करती है। सरलता और सादगी का सौन्दर्य रचती हुई यह कहानी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी को नयी जमीन और नयी चेतना देती है। प्रेमचन्द के ग्रामीण यथार्थ को और अधिक घने, आत्मीय और बिम्बात्मक रूप में प्रस्तुत करने के कारण यह उनकी कथा-परम्परा में एक नया प्रस्थान-बिन्दु रेखांकित करती है।

6.11 अभ्यास

1. नयी कहानी की विशेषताएँ बताइए।
2. नयी कहानी आन्दोलन में मार्कण्डेय का महत्व बताइए।
3. प्रेमचन्द के गाँव और मार्कण्डेय के गाँव का अन्तर स्पष्ट कीजिए।
4. 'हंसा जाई अकेला' कहानी के प्रमुख चरित्र का परिचय दीजिए।
5. 'हंसा जाई अकेला' में चित्रित ग्रामीण यथार्थ पर प्रकाश डालिए।
6. 'हंसा जाई अकेला' कहानी की भाषा की विशेषताएँ लिखिए।

इकाई 7 यही सच है : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 कहानीकार मन्नू भण्डारी : एक परिचय

7.3 'यही सच है' की कथावस्तु

7.4 कथा की संरचना

7.5 'यही सच है' की सार्थकता

7.6 चरित्र : दीपा, निशीथ और संजय

7.7 नयी प्रेम-संवेदना का यथार्थ

7.8 परिवेशगत यथार्थ

7.9 भाषा-शैली

7.10 सारांश

7.11 अभ्यास

7.0 उद्देश्य

यह एम.ए. हिन्दी के द्वितीय वर्ष के हिन्दी कहानी से संबंधित माड्यूल के पाठक्रम खण्ड-2 की इकाई 7 है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- मन्नू भण्डारी की कहानी 'यही सच है' के कथ्य और शिल्प से परिचित हो सकेंगे/सकेंगी।
- नयी कहानी आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में 'यही सच है' कहानी की विशेषताओं को समझ सकेंगे/सकेंगी।
- मन्नू भण्डारी के कहानीकार रूप से अवगत हो सकेंगें/सकेंगी।
- 'यही सच है' कहानी के प्रमुख पात्रों- दीपा, संजय और निशीथ के व्यक्तित्व को समझ सकेंगे/सकेंगी।
- इस कहानी के माध्यम से नयी प्रेम संवेदना के यथार्थ को जान सकेंगे/सकेंगी।
- इस कहानी से आज़ादी के बाद की स्त्री की स्वाधीन चेतना और उसकी विशेषता को समझ सकेंगे/सकेंगी।
- 'यही सच है' कहानी में प्रस्तुत मनोवैज्ञानिक यथार्थ का विश्लेषण कर सकेंगे/सकेंगी।

7.1. प्रस्तावना

मन्नू भण्डारी को 'नयी कहानी' आन्दोलन से जुड़ी हुई महत्वपूर्ण लेखिका माना जाता है किन्तु वे इससे इंकार करती हैं। 'कथादेश' पत्रिका के लिए ज्योति चावला को दिये गये अपने साक्षात्कार में उन्होनें कहा है- ''मैंने सन् 1955-56 से लिखना शुरू किया था पर मेरी महत्वपूर्ण रचनाएं तो सन् 64 के बाद यानी दिल्ली आने के बाद आईं। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरे लिखने की शुरूआत जरूर 'नयी कहानी' के दौर में ही हुई थी। पर उसके बारे में कुछ बतानें से पहले मैं इस प्रचलित धारणा को जरूर ध्वस्त करना चाहती हूँ कि मैं उसका एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर थी। ईमानदारी की बात तो यह है कि दो कहानी संग्रह छपने तक तो मुझे नयी कहानी का ककहरा भी नहीं आता था और न ही मेरा इससे कोई विशेष सरोकार था। अब क्योंकि मै अपने लेखन के शुरूआती दिनों से ही राजेन्द्र, राकेश जी और कमलेश्वर जी के साथ रहती थी जो नयी कहानी आन्दोलन के पुरोधा थे सो मेरा नाम भी इनके साथ जुड़ गया। आज सोचती हूँ तो यह भी लगता है कि उस समय इन लोगों के नामों के साथ जुड़ने से मुझे भी कुछ महत्वपूर्ण होने का बोध होता

होगा इसलिए मैंने भी तो कभी इसका मुख्य विरोध नहीं किया पर महत्वपूर्ण होने का बोध होना और महत्वपूर्ण हस्ताक्षर होना ये बिल्कुल अलग बातें है। हस्ताक्षर होने के लिए जरूरी है कि आप का उस आन्दोलन के साथ गहरा सरोकार हो और आप उसे बढ़ानें में निरन्तर सक्रिय हो (कथादेश-जनवरी 2009) भले ही मन्नू जी इससे इन्कार करती हो कि वे नयी कहानी आन्दोलन से जुड़ी महत्वपूर्ण लेखिका नहीं है। किन्तु वास्तविकता यह है कि उनकी कहानियों ने नयी कहानी आन्दोलन को गति दी है। उनकी यह कल्पना सच है कि उनकी कहानियों में नयी कहानी की विशेषताओं के कारण उन्हें नयी कहानी आन्दोलन में जुड़ा हुआ मान लिया गया। दरअसल किसी आन्दोलन से जुड़ना उतना महत्वपूर्ण नही है जितना आन्दोलन में न रहकर भी आन्दोलन को गति देने वाले कार्यो को सम्पादित करना। मन्नू जी ने दूसरे ढंग से काम किया। उन्होंने कहानियों में आजादी के बाद बदले हुए नये अनुभवों संबंधों को नये ढंग से चित्रित किया और विकसित हो रही नयी कथा-प्रवृत्तियों को गति दी। उनकी 'यही सच है' कहानी प्रेम-संवेदना के उस नये रूप से हमें परिचित कराती है जो आज़ादी के बाद की बदली हुई परिस्थितियों में संभव होती है और जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण विकसित करती है। नयी कहानी ने 'अनुभव की प्रामाणिकता' और 'अभिव्यक्ति की ईमानदारी' का जो स्वर मुखरित किया था, 'यही सच है' कहानी उसकों चरितार्थ करती है। डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी नें लिखा है, 'जहाँ तक मेरी जानकारी है, जिस दौर में यह कहानी लिखी गई है उस दौर में शादी के मामले में किसी भी तरह के दबाव से मुक्त ऐसी नारी-पात्र (दीपा) का मिलना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। मेरे विचार से हिन्दी में यह पहली कहानी होगी जिसमें एक लड़की हर तरह से अपना जीवन-साथी चुनने के लिए मुक्त है। निःसंदेह यह मौलिकता कहानीकार की नहीं, कहानीकार से अधिक इतिहास की देन है।' इस बात को इस रूप में भी कहा जा सकता है कि आजादी के बाद के नये जीवन-बोध और नये वातावरण ने दीपा जैसे स्त्री-चरित्र को जन्म दिया जिसने देश की स्वतंत्रता के साथ-साथ सामान्य व्यक्ति की स्वतंत्रता को भी अहमियत प्रदान की। आजादी के बाद के वातावरण पर रोशनी डालतें हुए नामवर सिंह ने बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है -

''राजनीतिक आज़ादी से नयी पीढ़ी ने सचमुच अपने को स्वतंत्र महसूस किया। उसे लगा कि वह अपनी आँखों से हर चीज देख सकता है और अपने दिमाग से सोच सकता है और उसने देखा की आजादी के साथ अंधेरे में जीता-जागता भारत निकल आया है और यह भारत बड़ा है, घना है, ठोस है और उसकी इच्छा हुई कि हर चीज को अपने हाथो से छूकर देखे कि वह क्या है ? बहुत सी ऐसी चीजें थी जिन्हें वह बड़े-बड़े गोल-मटोल शब्दों में जानता था अब जैसे उसे सभी कुछ देखने की आज़ादी मिल गयी।''

नामवर सिंह ने स्वतंत्रता के बाद के जिस वातावरण को रेखांकित किया है, वह एक वास्तविकता है और ऐसी वास्तविकता है जिसने हमारे रहने-सहने, जीने-सोचने- करने आदि के रंग-ढंग को एकदम बदल दिया। इसी बदली हुई परिस्थिति की उपज है 'यही सच है' कहानी की नयी प्रेम-संवेदना, नयी जीवन-दृष्टि और नया जीवन-लोक। इसी परिप्रक्ष्य में 'यही सच है'' कहानी के मर्म और यथार्थ कों समझा जा सकता है।

7.2 कहानीकार मन्नू भण्डारी : एक परिचय

मन्नू भण्डारी नयी कहानी आन्दोलन की महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है। उनकी कहानियों ने इस आन्दोलन को गति एवं शक्ति दी है। उन्होंने 1955-56 से लिखना शुरू किया और इसी समय से हिन्दी में नयी कहानी की चर्चा-प्रतिष्ठा शुरू हुई। पिछली इकाई में नयी कहानी आन्दोलन पर प्रकाश डाला गया है, इसलिए यहाँ उसकी पुनरावृत्ति न करते हुए केवल इतना संकेतित करना जरूरी है कि नयी कहानी में जिस नये अनुभव, संवेदना, दृष्टिकोण

और शिल्प की आवश्यकता पर बल दिया गया था, वह मन्नू भण्डारी की कहानियों में विद्यमान था, कहना चाहिए कि मन्नू भण्डारी स्वाभाविक ढंग से नयी कहानी की राह पर चल पड़ी थीं और वे उस नये कथा-संसार को सृजित करने लगी थीं जो देश-काल की नयी वास्तविकता से उद्भूत हुआ था। कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश की तिकड़ी के बीच मन्नू भण्डारी ने नयी कहानी को अपनी रचनाशीलता से समृद्ध किया।

मन्नू भण्डारी के अब तक चार कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं- 'मैं हार गई' (1957), 'यही सच है' (1966), 'एक प्लेट सैलाब' (1968), 'त्रिशंकु' (1978)। इसके अलावा उनकी चुनी हुई कहानियों के दो संग्रह प्रकाशित है। 'मेरी प्रिय कहानियाँ' (1977), 'श्रेष्ठ कहानियाँ' (1977)। कहानी-संग्रहों के अतिरिक्त उनके दो महत्वपूर्ण उपन्यास हैं– 'आपका बंटी' (1971) और 'महाभोज' (1979)। उनका एक और उपन्यास है, 'एक इंच मुस्कान' (1962)। यह मन्नू भण्डारी और राजेन्द्र यादव के सहलेखन का परिणाम है, कहना चाहिए कि यह उनके सहजीवन के समय का सृजन है।

मन्नू भण्डारी अपने समय के जीवन-यथार्थ को चित्रित करने वाली ऐसी लेखिका हैं जो न तो रचने का ढोंग पालती है, न ही कोई बड़बोलापन दिखाती है। वे जिस तरह जीवन को सहज-स्वाभाविक ढंग से जीती है, उसी तरह लिखती भी है। उनका लेखन एक धीर-गंभीर, शान्त और यथार्थ पर पैनी दृष्टि रखने वाली लेखिका का लेखन है जिसमें समय और समाज को विशेषकर शहरी मध्य वर्ग को, बहुत नजदीक से देखा-परखा और समझा गया है और एक सकारात्मक जीवन दृष्टि को स्थापित करने की सार्थक कोशिश की गयी है।

'मैं हार गई', 'ईसा के घर इन्सान', 'जीती बाजी की हार', 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'सयानी बुआ', 'यही सच है', 'रानी माँ का चबूतरा', 'अकेली', 'स्त्री सुबोधिनीं' 'एखाने आकाश नाई', 'निशंकु', 'रेत की दीवार' आदि उनकी चर्चित एवं महत्वपूर्ण कहानियाँ है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय समाज और जीवन-मूल्यों में जो परिवर्तन हुआ है या समाज और राष्ट्र जिन परिस्थितियों से गुजरा है, उन सबका कोई न कोई चित्र मन्नू भण्डारी की कहानियों में और 'महाभोज' जैसे उपन्यास में विशेष रूप से अंकित है यह तथ्य सर्वविदित है कि आजादी के बाद हमारे सामाजिक, राजनीतिक और परिवारिक ढाँचें में काफी परिवर्तन हुआ, जीवन मूल्यों और सम्बन्धों में काफी बदलाव आया, संयुक्त परिवारों के टूटने-बिखरने और छोटे-छोटे परिवारों के बननें की प्रक्रिया तेज हुई, आर्थिक स्थिति में भी काफी फर्क पैदा हुआ, इससे जीवन जीने के रंग-ढंग और सोच में भी तब्दीली आई, स्वतंत्रता के कारण कई तरह के बन्धनों से छुटकारा मिला, दिल-दिमाग की आजादी मिली, इससे नये संबंध बने, पुराने ध्वस्त हुए, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में भी स्वतंत्रता ने नये आयाम विकसित किये, प्रेम को नया आकाश मिला। मन्नू भण्डारी ने इस बदलते हुए समय और समाज को बहुत निकटता से जाना समझा, उसको आलोचनात्मक विवेक से परखा और नयी जीवन स्थितियों के तकाजे के मद्देनजर उसकी सार्थकता-निरर्थकता को रेखांकित किया। 'नकली हीरे' 'यही सच है', नई नौकरी', 'दरवाजा' 'आते-जाते यायावर', 'स्त्री सुबोधिनी' आदि कहानियों के माध्यम से इस बदलाव और यथार्थ को समझा जा सकता है।

'मन्नू भण्डारी की कहानियों में नारी जागरण का तत्व भी प्रमुखता के साथ विकसित हुआ है। उनकी कहानियों में यथार्थ का आग्रह अधिक है, भावुकता का कम किन्तु वे मर्यादा को एक दम तिलांजलि नहीं देती है। उनकी स्त्रियां स्वतंत्रता के स्वच्छ वातावरण में सांस लेती है, अपने निर्णय यथार्थ की जमीन पर लेती है, आजादी के बाद घर की चहार दीवारी से बाहर निकल कर युवतियों ने किस तरह जीवन-संघर्ष झेलना शुरू किया, कैसे-कैसे

अपने को आत्म निर्भर और साहसी बनाया, मन्नू भण्डारी ने उन सबके बड़े विश्वसनीय और प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत किये हैं और आजादी के बाद की नारी को एक नयी पहचान दी है। उनके स्त्री-पात्र न तो पश्चिम की नारी-मुक्ति का उच्छृंखल प्रदर्शन करते है, न ही सामंती मूल्यों वाली स्त्री-छवि को जीते हैं। उनके स्त्री पात्र स्वतंत्रता का तार्किक अर्थ ग्रहण करते हुए विवेकपूर्ण जीवन जीने का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'यही वजह है' मन्नू भण्डारी की कहानियों में न तो उच्छृंखलता है और न तथा कथित 'बोल्डनेस'। आजाद भारत में आजाद मन-मस्तिष्क के साथ स्वाधीन ढंग से जीवन-यापन की एक मर्यादित शैली को ही तरजीह देती हैं मन्नू भण्डारी की कहानियाँ। इतना अवश्य है कि मन्नू भण्डारी के नारी-पात्र नये पुराने के द्वन्द्व को बड़ी शिददत के साथ झेलते हैं और एक तार्किक परिणति को स्वीकार करते हैं। वे मोम की तरह गलते रहने वाले पात्र नहीं है।

7.3 'यही सच है' की कथावस्तु

'यही सच है' दीपा नाम की एक ऐसी लड़की के अन्तर्द्वन्द्वों की कहानी है जो अपने पहले प्रेम (निशीथ के प्रेम) से निराश होकर एक नये व्यक्ति (संजय) से प्रेम करने लगती है। पटना की रहने वाली दीपा जब अपने शोधकार्य के लिए कानपुर आ जाती है तब एक आफिस में काम करने वाले संजय से उसे प्रेम हो जाता है। समस्या तब खड़ी होती है जब दीपा को एक नौकरी के लिए इण्टरव्यू देने के लिए कलकत्ता जाना पड़ता है। दीपा समझ नहीं पाती है कि वह क्या करें। कलकत्ता में उसकी सहायता करने वाला कोई नहीं है। ले-देकर वहाँ उसकी सहेली इरा है। संजय उसे याद दिलाता है कि वहाँ निशीथ भी तो है। दीपा झुँझला जाती है 'होगा, हमें क्या करना है उससे ?' और यह भी कह देती है, 'देखो संजय, मैं हजार बार तुमसे कह चुकी हूँ कि उसे लेकर मुझसे मजाक मत किया करो।' किन्तु जब वह कलकत्ता जाती हैं और शाम को इरा उसे काफी हाउस ले जाती है, तब अचानक निशीथ मिल जाता है। निशीथ उसकी पूरी मदद करता है। अपने को वह निशीथ के करीब महसूस करने लगती है लेकिन निशीथ उससे एक तरह की, उदासीनता की, दूरी बनाये रखता है। निशीथ उसकी भरपूर मदद करता है और उसे आश्वस्त करता है कि उसकी नौकरी लग जायेगी, क्योंकि उसने जहाँ जैसी सिफारिश करनी चाहिए थी, कर दी है।

इण्टरव्यू देकर दीपा कानपुर लौट जाती है। वापस जाते समय ट्रेन पर सी-आफ करने के लिए निशीथ आया जरूर किन्तु उसने उस तरह का व्यवहार नहीं किया जिसके लिए दीपा तड़प रही थी, ट्रेन के छूटते-छूटते 'वह गाड़ी के साथ कदम आगे बढ़ाता है और उसके 'हाथ पर धीरे से अपना हाथ रख देता है।' गाड़ी चल देती है। निशीथ के उस हलके स्पर्श से विभोर हुई दीपा मन की गहराइयों में डूब जाती है, 'मन करता है कि चिल्ला पड़ूँ, मैं सब समझ गयी। जो कुछ तुम इन चार दिनों में नहीं कह पाये, वह तुम्हारें इस क्षणिक स्पर्श ने कह दिया। विश्वास करो यदि तुम मेरे हो तो मैं भी तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी, एक मात्र तुम्हारी।'

कानपुर पहुँचने के बाद दीपा फिर अकेली हो जाती है। उस अकेलेपन में वह निशीथ को याद करती है, उसे पत्र लिखती है। वह बड़े ऊहापोह में रहती है- 'लगता है जैसे मेरी राहें भटक गई है मंजिल खो गयी है। मैं स्वयं नहीं जानती मुझे कहाँ जाना है ?' इसी उधेड़बुन के बीच उसे इरा के तार से यह सूचना मिलती है कि उसकी नियुक्ति हो गयी है। बाद में निशीथ का भी ठंडेपन से लिखा गया पत्र मिलता है- 'इस सफलता के लिए मेरी ओर से हार्दिक बधाई स्वीकार करना। सच मैं बहुत खुश हूँ कि तुम्हे यह काम मिल गया। मेहनत सफल हो गयी। शेश फिर।' दीपा को इतने ठंडे पत्र की उम्मीद न थी। उसे फिर एक झटका-सा लगता है। इस बीच संजय आ जाता है और दोनों एक दूसरे

के आलिंगन में बँध जाते है, 'चुम्बित-प्रतिचुम्बित।'

इस तरह यह कहानी प्रेम का एक त्रिकोण रचती है- एक स्त्री और दो पुरुष। दोनों पुरुषों के बीच अलग-अलग ढंग से, अलग-अलग स्थानों पर पेण्डुलम की तरह झूलती हुई वह जब जहाँ जिसके साथ होती है, उसी को अपना मानती है और उस क्षण के जीवन को ही समझती है कि 'यही सच है।' सच के इस स्वीकार के बावजूद वह गहन अन्तर्द्वन्द्वों से गुजरती है। वही अंतर्द्वन्द्व इस कहानी का प्राण तत्व है जो उसे बराबर सजीव और रोचक बनाये रखता है।

7.4 कथा की संरचना

'यही सच है' कहानी की सारी खूबसूरती इसकी कथा की बुनावट और प्रस्तुति में है। इस बुनावट पर बात करने से पहले यह जान लेना जरूरी है कि निष्कर्ष रूप में यह कहानी बड़ी साधारण लगती है। एक स्त्री दो पुरुषों से प्रेम करती है, एक से कानपुर में-दूसरे से कलकत्ता में। यह प्रेम-निर्वाह तो बहुत आसान-सा है किन्तु मन्नू भण्डारी ने इस आसान-से दिखने वाले कथानक को अंतर्द्वन्द्वों के जिस ताने-बाने से बुना है, उससे न केवल कहानी मार्मिक और संश्लिष्ट यथार्थ वाली बन गयी है बल्कि प्रेम-त्रिकोण को भी एक नया और आधुनिक रूप दे दिया है। इस कहानी की आलोचना करते हुए मोहन राकेश ने लिखा है, 'प्रेम-त्रिकोण- एक स्त्री दो पुरुष, दो स्त्रियाँ, एक पुरुष, एक स्त्री, एक पुरुष और एक अदृश्य कुछ जो खलनायक की भूमिका में आ खड़ा होता है। यह एक ही तरह की कहानी न जाने कितनी बार और कितने हाथों से लिखी जा चुकी है फिर भी इस विषय की नवीनता आज तक समाप्त नहीं हुई। हर बार जब एक नया व्यक्ति नयी तरह से जो उस त्रिकोण में से गुजरता है या पहले की तरह गुजरते हुए महसूस कुछ और तरह से करता है या महसूस भी नहीं कुछ करता है पर कहना किसी और ढंग से चाहता है तो फिर से वही कहानी एक नयी कहानी का रूप ले लेती हैं।' कहना न होगा कि मन्नू भण्डारी ने प्रेम को नये ढंग से जाना-समझा है और उसे नये ढंग से लिखा भी है। उन्होनें अपने एक साक्षात्कार में सुधा अरोड़ा को यह भी बताया है कि उन्हें इस कहानी को लिखने की प्रेरणा राजेन्द्र यादव के एक कथन से मिली। शादी के एक साल बाद यानी 1960 में जब राजेन्द्र यादव अपनी पूर्व प्रेमिका से मिलकर दिल्ली से कलकत्ता लौटे तो किन्हीं अंतरंग क्षणों में मन्नू भण्डारी से कहा- 'पता नहीं, ऐसा क्यों होता है। मन्नू, पर जब वहाँ हूँ तो लगता है, वही मेरा सच है और जब यहाँ (मन्नू के पास) आता हूँ तो लगता है सच तो यह है।' इसी वाक्य से मन्नू की कल्पना को पंख लग गए। प्रेम-त्रिकोण में यह स्थिति तो एक महिला की हो सकती है जिस के दो प्रेमी है। एक कलकत्ता में, दूसरा कानपुर में और वह जब जहाँ जिस के साथ रहे तो वही सच लगे। इसी सच से मन्नू भण्डारी ने इस कहानी को बुना हैं मार्के की बात तो यह है कि उन्होनें अपनी कल्पनाशीलता और यथार्थानुभव का मिश्रण करके जिस कहानी कला का परिचय किया है उससे हिन्दी को एक नयी प्रेम कहानी मिल गयी। 'उसने कहा था', 'आकाशदीप' की प्रेम-संवेदना के आगे की कहानी-स्वतंत्रता-प्राप्त भारत की नयी भूमि पर रची-गढ़ी कहानी जो वास्तविकता और रोमैण्टिकता को एक साथ जीती है।

'यही सच है' कहानी का मूल्यांकन करते हुए मोहन राकेश ने इसे 'अन्दर की उफनती दुनिया' कहा है। दीपा के अन्तर्द्वन्द्वों को केन्द्र में रखकर मन्नू भण्डारी ने उस आधुनिक स्त्री की आधुनिक प्रेम कथा लिखी है जो घर-परिवार के रिश्ते-नाते से दूर एक नयी जीवन-परिस्थिति में जीती है और स्वतंत्र रूप से अपने निर्णय लेती है।

संयोग तत्व का सहारा लेकर- डायरी और आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई इस कहानी

में स्थूल घटनात्मकता का काफी अभाव है। 'नयी कहानी' की विशेषताओं की चर्चा करते हुए नामवर सिंह ने यह रेखांकित किया है कि नयी कहानी में कथा का ह्रास हो गया और कथानक में सूक्ष्मता और अल्पता आ गई। 'यही सच है' कहानी इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं।' कहा जा चुका हैं कि इस कहानी में घटना की स्थूलता या बहुलता नहीं है, अधिक घटना-प्रसंग भी नहीं है जो है, वह नायिका दीपा का तीव्र अन्तर्द्वन्द्व, उसके भीतर उठने वाले मनोभावो, विचारों का घात-प्रतिघात। 'अन्दर की उफनती दुनिया' अर्थात् मन के तीव्र हलचलों को लेखिका ने इस तरह शब्द-बद्ध किया है कि पाठक उसकी रौ में बहता-डूबता चला जाता है। आत्मकथात्मक होने के कारण यह कहानी पाठक को सहज रूप से अपने में डूबो लेती है।

यदि इस कहानी के कथानक का विन्यास करके उसकी संघटना को समझा-समझाया जाय तो कहना पड़ेगा कि एक छोटे से घटना-प्रसंग को लंबी कहानी का विषय बना दिया गया है। कहानी में नायिका दीपा नौकरी के लिए कानपुर से कलकत्ता जाती है और इण्टरव्यू देकर चली आती है। इस बीच वह अपने पूर्व प्रेमी निशीथ से मिलती है, वह नौकरी पाने में उसकी मदद करता है और उसे नौकरी मिल भी जाती है। कुल इतनी ही कथा है लेकिन इतनी-सी कथा को मन्नू भण्डारी ने प्रेम जीवन के स्वभाविक तौर पर उठने वाले प्रश्नों-मनोद्वन्द्वों से उसे इतना मार्मिक बना दिया है कि कहानी के किसी भी अंश को हम अनावश्यक नहीं कह सकते। यह है कहानी की प्रभावान्विति और कथा की एकान्विति, जो इस कहानी की भी विशेषता है और 'नयी कहानी' की भी। मोहन राकेश ने बहुत सही लिखा हैं, प्रेम अन्तर्द्वन्द्वों की कहानियाँ पहले भी लिखी गयी है और इस दृष्टि से इस कहानी में कुछ नयापन नहीं है, परन्तु मन्नू ने जिस सहजता और साहस के साथ इस अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया है और शिल्प के जिस अधिकार के साथ इसे एक क्लाइमेक्स दिया है, उससे इसमें अपनी ही एक ताजगी आ गयी है और लगता है जैसे कहानी-कहानी न होकर दीपा के जीवन का एक सच्चा अनुभव ही है और जैसे सचमुच आप दीपा की डायरी के पन्ने पलट रहे है।' मोहन राकेश ने यह भी कहा है कि 'मन्नू भण्डारी नें इस कहानी में संतुलित दृष्टि, ईमानदारी और संयत कला-दृष्टि का परिचय दिया हैं,' कहना न होगा कि कहानी न तो कहीं बहकती है, न अनावश्यक विस्तार पाती है। यह प्रेम के सघन आनंद से पाठक के मन को भर देती है और उसकी (प्रेम की) सुप्त व्यथाओं को भी जगा देती हैं। इतना सफल हुआ कथा-शिल्प बहुत कम देखने को मिलता है।

7.5 'यही सच है' की सार्थकता

कहानी का शीर्षक 'यही सच है' अर्थपूर्ण और नयी जीवन-दृष्टि का बोधक है। कहानी की नायिका दीपा अलग-अलग शहरों में दो भिन्न युवकों से प्रेम करती है और जब जिसके साथ रहती है, वही उसे सच्चा प्रेमी लगता है और उसे लगता है कि 'यही सच है'। अर्थात् यही उसके जीवन का (प्रेम का) पूर्ण सत्य है। जब वह संजय के साथ रहती है तब उसका प्रेम ही उसे सच लगता है और जब कभी उसे लगता है कि संजय उसकी और निशीथ के प्रेम को जानने के कारण कुछ संशक्ति होता होगा तब वह पूरी सफाई देती हुई कहती है, 'संजय! यह तो सोचो कि यदि ऐसी कोई बात होती, तो क्या मैं तुम्हारे आगें, तुम्हारी हर उचित अनुचित चेष्टा के आगे, यों आत्म-समर्पण करती ? तुम्हारे चुम्बनों और आलिंगनों में अपने को यों बिखेरने देती ? जानते हो, विवाह से पहले कोई भी लड़की किसी को इन सबका अधिकार नहीं देती। पर मैनें दिया, क्यों केवल इसीलिए नहीं कि मै तुम्हें प्यार करती हूँ, बहुत-बहुत प्यार करती हूँ। विश्वास करो संजय, तुम्हारा मेरा प्यार ही सच है, निशीथ का प्यार तो मात्र छल था, भ्रम था, झूठा था।' लेकिन वही दीपा जब

कलकत्ता में निशीथ से मिलती है तो पिछले सारे कटु-दुःखद और विश्वासघात के अनुभवों के बावजूद वह उसकी ओर इतना खिंच जाती है कि चाहने लगती है कि निशीथ उससे कह दे कि वह उसे अब भी प्यार करता है। वह पटना में निशीथ के साथ बितायें जीवन को अपने अन्तर्मन से याद करती है और रात में जब संजय को याद करते हुए सोने के लिए उद्यत होती है तब निशीथ 'बार-बार संजय की आकृति को हटाकर स्वयं आ खड़ा होता है।' दीपा चाहने लगती है कि निशीथ उससे कहे कि वह पिछली सारी बातें भूलकर आज भी उससे प्रेम करता है। वह मानने लगती हैं कि निशीथ के साथ उसका पहला प्यार था। उस प्यार में बेसुधी थी, विभोरता के क्षण थे और घनी तन्मयता थी। वह स्वीकार करती है कि प्रथम प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है, बाद में किया हुआ प्रेम तो अपने को भूलने का भरमाने का प्रयास मात्र होता है।' अपनी इस भावना के साथ जब वह कलकत्ता से वापस हो रही होती है तब गाड़ी के चलते समय निशीथ के हाथ का हलका स्पर्श पाकर वह धन्य हो उठती है, 'मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, बाकी सब झूठ है, अपने को भूलने का, भरमाने का, छलने का असफल प्रयास है' रास्ते भर दीपा यही सोचती रहती है कि उसका और निशीथ का प्रेम ही सच्चा प्रेम है, वही सच है और वह तय करती है कि संजय से मिलने के बाद वह उससे इस सत्य से अवगत करा देगी और कहेगी कि 'आज लग रहा है, तुम्हारे प्रति मेरे मन में जो भावना है, वह प्यार की नहीं, केवल कृतज्ञता की है। तुमने मुझे उस समय सहारा दिया था जब अपने पिता और निशीथ को खोकर चूर-चूर हो चुकी थी। ... मेरा मुरझाया, मरा मन हरा हो उठा; मै कृत-कृत्य हो उठी, और समझने लगी कि मैं तुमसे प्यार करती हूँ। पर प्यार की बेसुध घड़ियाँ, वे विभोर क्षण, तन्मयता के वे पल आये ही नहीं, जहाँ शब्द चुक जाते हैं। तुम पूरक थे, मैं गलती से तुम्हें प्रियतम समझ बैठी।' लेकिन कानपुर आने के बाद इसी दीपा का मन फिर बदल जाता है। उसे निशीथ की उदासीनता और तटस्थता खलने लगती है। नियुक्ति की सूचना के लिए निशीथ के पत्र का आस लगाये बैठी दीपा को जब इरा का पत्र और बाद में अत्यन्त ठंडे भाव से लिखा हुआ निशीथ का पत्र मिलता है तब वह फिर कल्पना-लोक के स्वर्ग से यथार्थ की जमीन पर आ जाती है और ढेर सारे रंजनीगंधा के फूलों के साथ उपस्थित संजय के चुंबन का स्पर्श महसूस करती हुई सोचने लगती है, 'और मुझे लगता है, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है वह सब झूठा, मिथ्या था, भ्रम था।'

कहना न होगा कि मन्नू भण्डारी ने बड़ी सधी हुई कला से 'यही सच है' की अनुगूंजों से कहानी को भर दिया है। यह उपलब्ध क्षण को जो लेने की भावना से उपजे वहां उस क्षणवादी दर्शन की अभिव्यक्ति भी है जो आज को कल पर टालने या कल (अतीत) को ही बिसूंरते रहने की प्रकृति का विरोध करता है। यदि हम कहानी के 'यही सच है' के मर्म को किसी ठोस तर्क पर कसेंगें तो निराशा होगी। यह तो उपलब्ध परिस्थिति को स्वीकार करके अपने मन को किसी तरह समझा-बुझाकर जी लेने का ऐसा दर्शन है जिसमें किसी प्रकार की सत्य-निष्ठा के साथ विरोध-प्रतिरोध करने का प्रश्न उठता ही नहीं है। यह धारा में बहते जाने जैसा है। यही आधुनिकता है। जो है, उसे जी लो - भरपूर - कल रहे या ना रहे। उपलब्ध को गवाना मूर्खता है और उससे बड़ी मूर्खता है- किसी एक से ही लगे रहना।

7.6. चरित्र : दीपा, निशीथ और संजय

इस कहानी के तीन पात्र हैं- दीपा, निशीथ और संजय। इन्ही तीनों के बीच प्रेम का वह त्रिकोण बना है जिसमे एक स्त्री दो पुरुषों से अलग-अलग शहरों में प्रेम करते हुए यह अनुभव करती है कि वह जब जहाँ जिसके साथ है, उसका प्रेम ही उसके लिए वास्तविक हैं। मन्नू भण्डारी ने केवल दीपा के चरित्र को उद्घाटित किया है। उसी के माध्यम से-

कभी चिन्तन, अनुचिन्तन करते हुए, कभी बात-व्यवहार करते हुए संजय और निशीथ को भी चित्रित किया है।

दीपा

दीपा एक ऐसी युवती है जिसका घर-परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। वह पटना की रहने वाली है। भैया-भाभी जरूर है पर वे भी कभी खोज-खबर नहीं लेते, दीपा भी उन्हें कभी यों ही पत्र लिख देती है। घर-परिवार से विच्छिन्न दीपा शोध करने के लिए कानपुर आती हैं यहीं उसे संजय सहारा देता है। धीरे-धीरे दोनों में आलोचना और अंतरंगता कायम हो जाती है। चूँकि दीपा को प्यार में निशीथ से धोखा मिला है, इसलिए वह संजय की ओर आकर्षित होती हुई उसके साथ विवाह बंधन में बंध जाना चाहती है किन्तु उसे निशीथ का प्रेम सालता रहता है। जब इण्टरव्यू के लिए वह कलकत्ता जाती है तब फिर वह निशीथ के प्रेम के लिए आतुर हो उठती है और चाहती है कि निशीथ उसे अपना ले किन्तु वह हर तरह उदासीन एवं तटस्थ बना रहता है। दीपा कानपुर आकर फिर संजय के प्रेम में डूब जाती है। इस तरह दीपा पेण्डूलम की तरह निशीथ और संजय के बीच डोलती हुई अन्तर्द्वन्द्व के हिचकोले खाती है। दीपा के मन में निशीथ के प्रति स्वाभाविक प्रेम है। वह अट्ठारह वर्ष की उम्र में किया गया उसका पहला प्यार हैं, वह उन्मादक और तन्मय करने वाला है लेकिन दीपा जब यथार्थ की भूमि पर आती है तब वह संजय को ही अपने को समर्पित कर देती है। कुछ दिनों तक वह निर्णय-अनिर्णय के द्वन्द्व में अवश्य रहती है किन्तु बाद में संजय की होकर वह यह प्रमाणित कर देती है कि जो उसका है, वह भी उसकी है। वह निशीथ को सौ खून माफ कर के अपनाना चाहती है लेकिन निशीथ की तटस्थता और उदासीनता आड़े आ जाती है। इससे यह पता चलता है कि दीपा के मन में निशीथ के प्रति सहज-स्वभाविक प्रेम है किन्हीं धोखों और व्यवहारों के कारण वह उससे क्षुब्ध है। कहा जा सकता है कि दीपा कालुश्य को मिटाकर प्रेम-पथ पर निशीथ के साथ चलना चाहती है लेकिन वस्तु स्थिति का विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि दीपा के प्रेम में स्वार्थ की भावना प्रबल है, उत्सर्ग या न्योछावर होने की पुरानी प्रेम भावना कम। वह एक पढ़ी लिखी युवती है, आत्मनिर्भर होने की दिशा में अग्रसर है, अपने निर्णय लेने में सक्षम है इसलिए वह प्रेम में घुट-घुटकर मरने की बजाय यथार्थ को स्वीकारते हुए नया प्रेम-पथ चुन लेने का माद्दा रखती है। निशीथ के प्रति उसका उमड़ा प्रेम उसकी स्वार्थ पूर्ति का नतीजा है। होगी प्रेम की पुरानी प्रतीति, लेकिन सच तो यह है कि यदि निशीथ ने नौकरी लगने में उसकी मदद न की होती तो वह शायद उसे कभी याद भी न करती। कहानी के अंत में वह सब कुछ भूलकर संजय से लिपट जाती है।

संजय के प्रति भी उसका प्रेम कृतज्ञता का है। घर-परिवार से छूटने और निशीथ से टूटने के बाद वह संजय के आगोश में आ जाती हैं। यही उसकी यथार्थजीविता है और जीवन को जीने का माद्दा भी। वह नैतिकता-अनैतिकता के द्वन्द्व में भी नहीं फँसती हैं। उसके प्रेम की कोई ऐसी कसौटी भी नहीं है जिसके आधार पर किसी को चाहे और किसी को रिजेक्ट करें। थोड़ी देर के लिए वह संजय और निशीथ के व्यक्तित्व की तुलनात्मक समीक्षा जरूर करती है किन्तु किसी पक्ष के साथ न तो जुड़ती है, न कटती है। वह केवल वर्तमान देखती है, वर्तमान का सच जीती है। वर्तमान से बड़ा और कोई आधार नहीं है, उसके पास। वह कोई ऐसी मूल्यजीवी युवती नहीं है जो मूल्य के लिए प्रेमी को स्वीकारे या नकारे। जिससे बात बन जाती है, वह उसी की हो जाती है। यही आधुनिकता की देन है। इसी तरह लोग आधुनिक बनते हैं।

संजय

संजय दीपा का प्रेमी है किन्तु न तो समय का पाबन्द है, न फिक्रमन्द, वह काफी लापरवाह है। इससे दीपा बहुत झुंझलाती है, 'नहीं आना था तो व्यर्थ ही मुझे समय क्यों दिया ? फिर यह कोई काम की बात है। हमेशा संजय अपने बताये समय से घंटे-दो घंटे देरी करके आता है और मैं उसी क्षण से प्रतीक्षा करने लगती हूँ, वह क्यों नहीं समझता कि मेरा समय बहुत अमूल्य है।'

संजय दीपा के पहनावे आदि की कभी तारीफ भी नहीं करता- 'संजय न कभी मेरे कपड़ों पर ध्यान देता है, न ऐसी बातें करता है।' 'पिछले ढाई साल से संजय के साथ रह रही हूँ, रोज ही शाम को घूमने जाते हैं, कितनी ही बार मैंने श्रृंगार किया, अच्छे कपड़े पहने पर प्रशंसा का एक शब्द भी उसके मुंह से नहीं सुना।' कहना चाहिए वह प्रशंसा-कृपण है। संजय प्रशंसा-कृपण भले हो, पर प्रेम जताने के मामलें में अति उत्साही, एक हद तक उद्धत है। वह बात-बात में दीपा को चूम लेता है, बाहों में भर लेता है। दीपा ने एक बार कहा था कि उसे रजनीगंधा के फूल बहुत अच्छे लगते हैं। तब से वह अक्सर रजनीगंधा के फूल लाकर उसके कमरे में सजा देता है। वह प्रेमिका को खुश करना जानता है, उत्साही है, इधर-उधर की बातों में दिमाग नहीं खपाता। दीपा-निशीथ के प्रेम-सम्बंध को लेकर वह कभी टीका-टिप्पणी भी नहीं करता, हालांकि दीपा के मन में कभी-कभी शंका के साँप फन उठाते हैं लेकिन संजय सकारात्मक सोच का युवक है। वह कुंठारहित है।

निशीथ

निशीथ दीपा का पूर्व प्रेमी है अर्थात उसका पहला प्यार। दीपा के कथनों से पता चलता है कि उसने दीपा को धोखा दिया, उसके साथ विश्वासघात किया और उसे सारी दुनिया की भर्त्सना, तिरस्कार, परिहास और दया का पात्र बना दिया। वह कहती है ''विश्वासघाती! नीच कहीं का'' किन्तु यह नहीं स्पष्ट होता है कि उसने दीपा के साथ कब कैसा सलूक किया। उसके इस सच के बरक्स कहानी में उसका जो स्वरूप चित्रित है वह निश्चय ही नेक और मददगार इन्सान का है। वह इतना नेक है कि दीपा की सारी उपेक्षा और ठण्डेपन के बावजूद वह उसकी मदद करता है और उसकी नियुक्ति को संभव भी बना देता है। इसके प्रतिदान में वह न तो दीपा से कोई उम्मीद करता है, न ही अपने टूटे दिल की दास्तान के पन्ने खोलता है। वह एक मूक सहयोगी-सा सहयोग करता है। उसमें न तो कोई उतावलापन पैदा होता है, न हीला-हवाली। संकोच-दुराव करके कार्य से दूर हट जाने को वह कोशिश भी नहीं करता है। वह संजय का एक तरह से प्रतिलोम है। संजय प्रेम में उदृत है, वह संयत। संजय प्रशंसा-कृपण और लापरवाह है, निशीथ का स्वभाव इससे भिन्न है। वह दीपा की यथावश्यक प्रशंसा भी करता है और समय का बहुत ही पाबन्द है। निशीथ की पाबन्दी ही दीपा को उसकी ओर आकृष्ट करती है। इसी के चलते वह उसके प्रति चाहकर भी कटु नहीं हो पाती। उसके अपनत्व-भरे व्यवहार से वह अपने प्रेम की पुरानी दुनिया में खों जाती है। निशीथ की भलमनसाहत उसे बहुत प्यारी लगती है। वह कभी किसी का एहसान नहीं लेता किन्तु दीपा के लिए उसने यह काम किया। लोगों से सिफारिश की, काम को अंजाम तक पहुँचाया।

निशीथ के व्यवहार और स्वास्थ्य से यह पता चलता है कि प्रेम की असफलता ने उसे काफी तोड़ दिया है। अवसन्न कर देने की हद तक। दीपा के साथ उसकी शांत और संजय की उपस्थिति से उसकी व्यथा और अवसन्नता का पता चल जाता है और यह भी रेखांकित हो जाता है कि अब उसके चित्त में प्रेम की कोमलता नहीं रह गयी है। शायद यह सोता एकदम सूख गया है। कवियों के तरह बढ़े हुए उसके बाल, स्याह रंग, दुर्बलता आदि सब इसी का पता देते हैं। दीपा महसूस करती है, 'कितना दुबला हो गया है निशीथ ! लगता है, जैसे मन में कहीं कोई गहरी पीड़ा छिपाये बैठा है।'

7.7 नयी प्रेम-संवेदना का यथार्थ

'यही सच है' कहानी नयी प्रेम-संवेदना की कहानी है- 'उसने कहा था', 'आकाशदीप' जैसी कहानियों के मान-मर्यादा, लोक-लाज, त्याग, बलिदान, कर्तव्य निष्ठा, स्वच्छन्द प्रेम भावना आदि से अलग हटकर प्रेम भावना को जीवन-यथार्थ की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित करती है। आजादी के बाद प्रेम-संबंधों में नये आयामों और नयी जीवन-स्थितियों के पैदा होने से प्रेम के प्रति मनुष्य की धारणा में नया परिवर्तन उपस्थित हुआ। आधुंनिकता ने तर्क-वितर्क यानी बौद्धिकता को तो महत्वपूर्ण ठहराया ही, स्वतंत्रता ने भारतीय जीवन धारा में आत्मनिर्णय को महत्वपूर्ण बना दिया। अब वह समय नहीं रहा जब कोई किसी की याद में जिन्दगी भर रोया करे या उसी के लिए जीवन कुर्बान करे। भौतिकता और बढ़ती हुई स्वार्थपरता ने प्रेम को तन के सुख के साथ जोड़ दिया और उसके मन-स्तत्व को लगभग समाप्त कर दिया। 'यही सच है' कहानी की दीपा जिस तरह संजय और निशीथ के सम्पर्क में आकर अलग-अलग तरह से अपने प्रेम की व्याख्या करती है और जिस तरह दोनों के साथ को 'यही सच है' मानकर जीती है या जीना चाहती है, वह आधुनिक प्रेम संवेदना के उस सच को ही प्रतिष्ठित करता है जिसमें किसी के लिए कभी भी जगह हो सकती है-धोखेबाज निशीथ के लिए भी और लापरवाह हितैशी संजय के लिए भी। उसका मन निशीथ में बसता है और तन संजय के साथ के लिए व्यग्र रहता है। वह खुद इस स्थिति से दुखी है- "इसी तरह की असंख्य बातें दिमाग में आती है, जो मैं संजय से कहूँगीं। कह सकूँगी यह सब ? लेकिन कहना तो होगा ही। उसके साथ अब एक दिन भी छल नहीं कह सकती। मन से किसी और की आराधना करके तन से उसकी होने का अभिनय करती रहूँ ? छिः!"

दीपा का प्रेम भावनात्मक न होकर स्वार्थ केन्द्रित और यथार्थाश्रित है। 'यही सच है 'का मन्तव्य भी यही है- उपलब्ध क्षण का सच, उपलब्ध व्यक्ति का सच-जो है उसका सच। दीपा मानती है कि उसकी भावुकता यथार्थ में बदल गई है- 'वह क्यों नहीं समझता कि आज हमारी भावुकता यथार्थ में बदल गई है सपनों की जगह हम वास्तविकता में जीतें है। हमारे प्रेम को परिपक्वता मिल गई है। जिसका आधार पाकर वह अधिक गहरा हो गया है, स्थायी हो गया है।' यह यथार्थ स्वार्थकेन्द्रित है। दीपा निशीथ के प्रति जो खिंचाव महसूस करती है, उसका कारण प्रेम उतना नहीं है जितना कि स्वार्थ-सिद्वि। वह एक विचित्र दशा में जीती है-नकार और स्वीकार की द्वन्द्वपूर्ण स्थिति। वह आत्म विश्लेषण करती हुई कहती है- 'विचित्र स्थिति मेरी हो रही थी। उसके अपनत्व भरे व्यवहार को मैं स्वीकार भी नहीं पाती थी, नकार भी नहीं पाती थी।' यह स्वीकार और नकार का द्वन्द्व इसलिए नहीं समाप्त हो पाता है क्योंकि वह सोचती है कि निशीथ उसके इन्कार के कारण उसकी नौकरी को संभव बनाने की कोशिश ही न छोड़ दे-'मैने कई बार चाहा कि संजय की बात बता दूँ, पर बता नहीं सकी। सोचा, कहीं यह सब सुनकर वह दिलचस्पी लेना कम न कर दे। उसके आज-भर के प्रयत्नों से ही मुझे काफी उम्मीद हो चली थी। यह नौकरी मेरे लिए कितनी आवश्यक है। मिल जाय तो संजय कितना प्रसन्न होगा, हमारे विवाहित जीवन के आरंभिक दिन कितने सुख में बीतेगें।' जब निशीथ उसे बताता है कि उसका चुना जाना करीब-करीब तय ही हो गया है तब उसे वह बहुत दिनों के बाद 'एक बार फिर बड़ा प्यारा-सा लगा।' क्या यह स्वार्थ-पूर्ति से उपजी प्रेम-भावना नहीं है ? दरअसल दीपा का प्रेम भावनात्मक न होकर अवसरवादी है, क्षणजीवी है। वह भोक्तावादी जीवन-दृष्टि का नतीजा है। दीपा निशीथ के प्रति उतने समय तक ही आकृष्ट रहती है जितनी देर तक उसके पास रहती है। कानुपर पहुँचकर तो वह संजय के साथ 'चुम्बित-प्रतिचुम्बित' की दशा पाकर आत्मविभोर हो जाती है।

'यही सच है' कहानी की प्रेम-संवेदना स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद की स्त्री के स्वाधीन विवेक का परिणाम है। स्वाधीन वातावरण में ही दीपा आत्म-निर्णय की स्वाधीनता अर्जित कर पाती है। यह स्वाधीनता भी उसके अकेलेपन में और अधिक प्रभावी हो जाती है। दीपा के सामने प्रेम के संदर्भ में जो भी द्वन्द्व है वह मनोवैज्ञानिक यथार्थ है किन्तु वह द्वन्द्व किसी मूल्य-निष्ठा से नहीं उपजा है। आजादी के बाद मूल्य केवल टूटे-बिखरे ही नहीं, समाप्त भी हुए। एक तरह की मूल्यहीनता को भी मूल्य मानने की स्वतंत्रता को बढ़ावा मिला। सच को झूठ और झूठ को सच मानने के द्वन्द्व को जीती है दीपा और जीत जाती है उसकी व्यावहारिक बुद्धि। डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी ने बहुत सही लिखा है- 'यही सच है' का मतलब यह कि झूठ और सच का निर्णय किसी नैतिक या सौन्दर्य बोधीय आधार पर नहीं हुआ। एक आवेश पर हुआ और आवेश प्रायः क्षणिक ही होता है। व्यक्ति को निर्णय में झोंक देता है। सच नेपथ्य में पड़ा रहता है और झूठ सच के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। 'यही सच है' शीर्षक सच का झूठापन स्थापित करता है। यशपाल का 'झूठा सच' एक ऐतिहासिक घटना का शीर्षक है। 'यही सच है' गहन व्यक्तिगत द्वन्द्व का। जो हो जाय, उसी को सच मानना पड़ता है। शायद मानना भी चाहिए क्योंकि व्यवहार बुद्धि यही है। 'तो 'यही सच है'' का प्रेम व्यवहार बुद्धि को प्रश्रय देता है और उस प्रेम-संवेदना को नकारता है जो यह मानकर चलती है कि 'अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं।' यह प्रेम रीति-स्वच्छन्द धारा के कवियों के भीतर था, छायावाद उससे आगे आया और प्रेम के कल्पना-लोक में खो गया। आजादी के बाद यह प्रेम धरती पर आया, और स्वार्थ-लिप्त होकर अपनी अकेली दुनिया में सिमट गया। यह लोक से न्यारा तो नहीं है लेकिन लोक के बीच रहकर भी लोक से एकदम बेखबर है अपने में डूबा हुआ, अपनी स्वार्थ-सिद्धि का जश्न मनाते हुए। इसमें मन का द्वन्द्व तो है पर तन का सुख सर्वोपरी है। महत्वपूर्ण यह है कि यह प्रेम उस स्त्री का है जो घर की चहारदीवारी से मुक्त हुई और जिसे अपने ढंग से जीने-रहने की स्वतंत्रता मिली है। इस प्रेम में पुरुष की नहीं, स्त्री को अहमियत हासिल हुई है। कम से कम वह स्वीकार-अस्वीकार का हक तो पा गयी है। निश्चय ही मन्नू भण्डारी ने दीपा को एक नयी स्त्री का व्यक्तित्व प्रदान किया है अपने ढंग से, अपनी शर्तो पर जीने वाली, साथ ही पुरुष के दासत्व से सर्वथा मुक्त और अपने जीने का अर्थ स्वयं तलाशती हुई, प्रमाणित करती हुई भी। इससे समकालीन स्त्री-विमर्श की भी एक सार्थक दिशा उद्‌घाटित होती है।

7.8 परिवेशगत यथार्थ

'नयी कहानी' में परिवेश का यथार्थ स्थूल रूप में या बाहर से लाया गया न होकर पूरे कथानक में अन्तर्भुक्त रूप में चित्रित हुआ है। 'यही सच है' कहानी का पूरा परिवेश शहरी यथार्थ को बिम्बित करता है। यह कहानी पटना, कानपुर और कलकत्ता जैसे शहरों में रहने वाली दीपा के अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण प्रेम को शहरी वातावरण में बड़ी स्वाभाविकता के साथ चित्रित करती है। ट्रेन, कार्यालय, रेस्ट्राँ, टैक्सी, लॉन, कॉफी आदि की भी इस प्रेमकथा को गढ़ने और उसमें नया रंग भरने की सार्थक भूमिका है। टैक्सी में निशीथ के साथ बैठकर घूमने जा रही दीपा जिस प्रेमानुभूति या रोमांच से भर उठती है और उसके भीतर कैसी-कैसी कल्पनाएँ पंख मारने लगती है, यह दृश्य शहरी यथार्थ की देन है जिसे कभी परसाई ने 'टैक्सी में प्रेम' के रूप में हास्य व्यंग्य का मसाला बनाकर प्रस्तुत किया था। दीपा और निशीथ को लेकर टैक्सी जिस तरह सरसराती चलती है उसी त्वरा के साथ दीपा की कल्पना और भावना में भी गति आ जाती है- 'टुन की घंटी के साथ मीटर डाउन होता है और टैक्सी हवा से बात करने लगती है। निशीथ बहुत सतर्कता से कोने में बैठा हैं, बीच में इतनी जगह छोड़कर कि यदि हिचकोला खाकर भी टैक्सी रूके तो

हमारा स्पर्श न हो। हवा के झोकें से मेरी रेशमी साड़ी का पल्लू उसके समूचे बदन को स्पर्श करता हुआ उसकी गोद में पड़कर फरफराता है। वह उसे हटाता नहीं।' ऐसी स्थिति में दीपा मन ही मन कहती है–'उसका यूं कोने में दुबक कर निर्विकार भाव से बैठे रहना मुझे अच्छा नहीं लगता।' वह चाहती है कि कोई उसे अपनी बाहों में लपेट लें। ''मैं जानती हूँ कि जब निशीथ बगल में बैठा हो उस समय ऐसी इच्छा करना या ऐसी बात सोचना भी कितना अनुचित है। पर मैं क्या करूँ ? जितनी द्रुतगति से टैक्सी चली जा रही है मुझे लगता है उतनी ही द्रुतगति से मैं भी बही जा रही हूँ, अनुचित, अवांक्षित दिशाओं की ओर।' कहानी में आए इस तरह के दृश्यों को 'रजनीगंधा' नाम से बनी फिल्म में बहुत जीवन्त रूप में दिखाया गया है। उस फिल्म को देखकर समझा जा सकता है कि कहानी की प्रेम-कथा में शहरी परिवेश और उसका यथार्थ कितने अभिन्न रूप में अन्तर्व्याप्त है।

भीड़ भरे शहर में जिस तरह दीपा और निशीथ अपने अकेलेपन को झेलते हैं, वही शहरों का 'भीड़ में अकेलापन' है। होटल में दीपा और निशीथ कॉफी पीने के लिए दाखिल होते है तो उनका विशेषकर दीपा का अकेलापन और गहरा हो जाता है। 'चुपचाप हम दोनों अन्दर जाते हैं। आस पास बहुत कुछ है, चहल-पहल, रोशनी, रौनक। पर मेरे लिए जैसे सबका अस्तित्व मिट जाता है। मैं अपने को सबकी नजरों से ऐसे बचाकर चलती हूँ, मानों मैनें कोई अपराध कर डाला हो, मानों कोई मुझे पकड़ न ले।'

शहरयार की गज़ल का शेर है–

'सीने में जलन आँखों में तुफान-सा क्यों है ?

इस शहर में हर शख्स परेशान-सा क्यों है ?

वातावरण कथ्य में किस तरह समाया हुआ है और कितना उसे मार्मिक बनाता है, यह देखने के लिए प्लेटफार्म से छूटती हुई दीपा की ट्रेन का यह संदर्भ पर्याप्त है- 'आंसू भरी आखों से मैं प्लेटफार्म को पीछे छूटता हुआ देखती हूँ। सारी आकृतियाँ धुंधली-सी दिखाई देती है'। असंख्य हिलते हाथों के बीच निशीथ के हाथ को, उस हाथ को, जिसने मेरा हाथ पकड़ा था, मैं ढूँढंने का असफल प्रयास करती हूँ। गाड़ी प्लेटफार्म को पार कर जाती है और दूर-देर तक कलकत्ता की जगमगाती बस्तियाँ दिखायी देती है। 'धीरे-धीरे वे सब दूर होती जाती हैं, पीछे छूटती जाती हैं। मुझे लगता है यह दैत्याकार ट्रेन मुझे मेरे अपने घर से कहीं दूर ले जा रही है- अनदेखी अनजानी राहों में गुमराह करने के लिए, भटकाने के लिए।'

यह कहानी मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' नाटक की तरह विशेष परिस्थिति की विशेष प्रेम-कथा है। दीपा, संजय और निशीथ तीनों अकेले हैं' और अपने ढंग की जिन्दगी जीते है। यहाँ समाज एकदम अनुपस्थित है, उसकी उपस्थिति केवल वातावरण में महसूस होती है।

7.9 भाषा-शैली

'यही सच है' की भाषा सहज, स्वाभाविक और प्रवाह पूर्ण है। उसमें कहानी की नायिका 'दीपा' के मनोगत यथार्थ और उसके तीव्र अन्तर्द्वन्द्वों को रूपायित करने की पूरी क्षमता है। चूंकि यह कहानी शहरी वातावरण और शिक्षित नवयुवकों और नवयुवती की कहानी है, इसलिए इसकी भाषा में अंग्रेजी शब्दों का स्वभाविक प्रयोग हुआ है जो भाषा के साथ-साथ पात्रों की आधुनिकता को भी प्रमाणित करता है।

मन्नू भण्डारी की भाषा मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करने में काफी समर्थ है। वे भावावेग को जितने सधे ढंग से व्यंजित करती हैं, वह उनकी भाषा की सादगी और उसकी व्यंजकता का श्रेष्ठ उदाहरण है। निशीथ से मिलने के बाद दीपा की आवेगपूर्ण स्थिति का वर्णन देखिए- 'मेरी साँस जहाँ की तहाँ रूक जाती है आगे के शब्द सुनने के लिए। पर शब्द नहीं आते। बड़ी कातर, करूण और याचना-भरी दृष्टि से मैं उसे देखती हूँ, मानो कह रही हूँ कि तुम कह क्यों नहीं देते निशीथ, कि आज भी तुम मुझे प्यार करते हो, तुम मुझे सदा अपने पास रखना चाहते हो, जो कुछ हो गया है, उसे भूलकर तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो। कह दो निशीथ, कह दो।'

भाषा में भाव को बिम्बित करने की जैसी क्षमता होनी चाहिए, वह मन्नू भण्डारी की भाषा में है। वे शब्दाडम्बर से नहीं, शब्द की व्यंजना-शक्ति से अधिक काम लेती है'। छोटे-छोटे वाक्य, पर नदी की तरह प्रवाह बनाये हुए, भावावेग को जिस तरह व्यक्त करते हैं, वह भाषा की अर्थपूर्णता का द्योतक है। एक समय खड़ी बोली में तत्सम शब्दावली भरी रहती थी, फिर वह हिन्दुस्तानी और उर्दू के रूप में आगे बढ़ी। आजादी के बाद उसमें अंग्रेजी शब्दों की भरमार हो गयी। यह लोगों में बढ़ती हुई अंग्रेजियत का उदाहरण है। मन्नू भण्डारी जब लिखती हैं- 'मन में उत्कट अभिलाषा होते हुए भी निशीथ की आवश्यक मीटिंग की बात सुनकर मैंने कह दिया था कि तुम स्टेशन मत आना।' तब वे शहरी मध्यम वर्ग की भाषा का स्वाभाविक रूप उपस्थित करती हैं और उसकी आधुनिकता को भी रेखांकित करती है। समाज से भाषा बनती है और भाषा समाज को पहचान देती है। जो भाषा जितनी प्रभाविकता के साथ समाज से जुड़ी होगी, वह उतनी ही प्रभाविकता के साथ समाज को बिम्बित करेगी। मन्नू भण्डारी की भाषा में उनका देखा-समझा समाज स्वाभाविक रूप में उपस्थित है।

7.10 सारांश

'यही सच है' कहानी आजादी के बाद लिखी गई एक ऐसी प्रेम-कहानी है जो अपने कथ्य और शिल्प में सर्वथा नयी और अनूठी है। यह स्वतंत्र भारत में स्वतंत्रता के एहसास से भरी दीपा नाम की युवती की अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण आत्मकथा-सी है जो अलग-अलग शहरों में रहने वाले युवक-संजय और निशीथ-से प्रेम करती है। कहानी में निशीथ का प्रेम उसका अतीत है और संजय का प्रेम उसका वर्तमान किन्तु नौकरी के लिए इण्टरव्यू देने के लिए जब वह कानपुर से कलकत्ता जाती रही है तब निशीथ से भेंट होने पर उसका अतीत जाग उठता है और वह अनुभव करने लगती है कि निशीथ के मन में अभी भी उसके लिए प्रेम है। दीपा पुनः निशीथ को प्रेम की दृष्टि से देखने लगती है और उसे लगता है कि उसका और निशीथ का प्रेम ही सच है। कानपुर में उसे संजय का प्रेम और कलकत्ता मे निशीथ का प्रेम उसे इस तरह सच लगता है कि वह समझ नहीं पाती कि वास्तविक सच क्या है, इसलिए वह एक आसान तर्क का शिकार हो जाती है कि जब जहाँ, वह जिसके साथ है, वही उसका और उसके प्रेम का सच है। सच की यह व्याख्या आधुनिक जीवन-दृष्टि की देन है। दीपा एक अकेली युवती है, अकेली रहती है, घर-परिवार से स्वतंत्र है, इसलिए उसे प्रेम में पूरी तरह की स्वतंत्रता प्राप्त है, वह जैसा चाहे, वैसा निर्णय ले। यह आज़ाद स्त्री की आज़ाद मनोदशा का प्रतिबिम्बि है। सदियों से पुरुष के स्वामित्व में रहने वाली स्त्री का दीपा के रूप में नया संस्करण है। यह उसकी स्वाधीनता की चेतना है और उसी से उद्भुत उसकी आत्म-पहचान भी। मन्नू भण्डारी ने उसे किसी क्रान्तिकारिणी या विद्रोहिनी स्त्री के रूप में नहीं चित्रित किया है, इसकी आवश्यकता भी नहीं थी लेकिन दीपा के माध्यम से एक ऐतिहासिक सच को जरूर उजागर किया है कि दीपा नाम की युवती आज़ाद भारत की वह युवती है जिसमें आत्म-निर्णय का पूरा बोध

है और आत्म-शक्ति की पूरी पहचान भी।

इस कहानी की प्रेम संवेदना इस अर्थ में अधिक आधुनिक और अर्थपूर्ण है कि इसमें प्रेम का न तो आदर्शवादी रूप है, न उन्मादी या उच्छृंखल। इसकी एक खूबी यह भी है कि यह हर तरह से संयत है। इससे मनोवैज्ञानिक सच्चाई अच्छी तरह व्यक्त हुई है किन्तु इस सच्चाई पर कोई समाजिक दबाव नहीं है। बल्कि वह व्यक्ति की निजी उधेड़बुन ही है। इस उधेड़बुन के चलते ही दीपा कभी संजय के साथ, कभी निशीथ के साथ प्रेम का अनुभव करती हुई अलग-अलग ढंग से स्वीकार करती है कि 'यही सच है।' दरअसल मन्नू भण्डारी ने इस कहानी को मनोवैज्ञानिक यथार्थ के साथ इस तरह बुना है कि दीपा की सारी उधेड़बुन पाठक को बहुत ही आत्मीय और विश्वसनीय लगती है। यह दूसरी बात है कि प्रेम के इस त्रिकोण में किसी समाजिक, नैतिक मूल्य की कोई भूमिका नहीं है।

आज़ादी के बाद शहरी मध्यवर्ग के युवक और युवतियाँ किस तरह प्रेम की नयी परिभाषा गढ़ने लगे, प्रेम को नये ढंग से जीने-समझने लगे, यह कहानी उस सच को बहुत अच्छी तरह दर्शाती है और पाठक में नयी प्रेम-संवेदना का एहसास भरती है। यह कहानी भावावेग से परिपूर्ण है किन्तु भावुकता की जगह जीवन-यथार्थ की ठोस उपस्थिति है। इसमें सच को सच के रूप में कहने और स्वीकार करने का साहस भी है।

7.11 अभ्यास

1. नयी कहानी आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में 'यही सच है' की विशेषताएँ लिखिए।
2. 'यही सच है' शीर्षक की सार्थकता प्रतिपादित कीजिए।
3. 'यही सच है' की प्रेम-संवेदना की आधुनिकता पर प्रकाश डालिए।
4. 'दीपा' के व्यक्तित्व ही विशेषताएँ लिखिए।
5. 'यही सच है' कहानी की मार्मिकता का विश्लेषण कीजिए।
6. 'यही सच है' कहानी मनोवैज्ञानिक यथार्थ की कहानी है, प्रमाणित कीजिए।
7. 'यही सच है' कहानी के कथ्य और शिल्प की विशेषताएँ लिखिए।
8. 'यही सच है' के परिवेशगत यथार्थ पर प्रकाश डालिए।

इकाई 8 मलबे का मालिक : विश्लेषण और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 नयी कहानी आन्दोलन

8.3 मोहन राकेश की कहानियाँ और नयी कहानी आन्दोलन

8.4 मलबे का मालिक : पाठ-बोध और प्रक्रिया

8.5 सारांश

8.6 अभ्यास

8.0 उद्देश्य

मोहन राकेश नयी कहानी के एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर थे। इस इकाई में आप उनकी एक सशक्त कहानी 'मलबे का मालिक' के पाठ के माध्यम से उनके कथा-साहित्य का परिचय पाएँगे/पाएँगी। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- नयी कहानी आन्दोलन की सामान्य पृष्ठभूमि की जानकारी पा सकेंगे/सकेंगी।
- नयी कहानी आन्दोलन में मोहन राकेश की जग तथा योगदान का आकलन कर सकेंगे/सकेंगी।
- रक्तपाल की व्यर्थ हिंसा तथा राजनीति के विराट चंगुल में अनायास, अनजाने फँसे निरीह, निस्हाय आम आदमी की त्रासद नियति का साक्षात्कार करेंगे/करेंगी।
- नयी कहानी के रचनातंत्र तथा सृजन-कौशल का सोदाहरण परिचय पाएँगे/पाएँगी।

8.1 प्रस्तावना

मदन मोहन गुगलानी उर्फ मोहन राकेश का जन्म 1925 में तथा देहान्त 1972 में हुआ। स्वाधीनता के उपरान्त पहले दशक में कथाकारों की चार पीढ़ियाँ सृजन-सक्रिय थीं, जैसा कि प्रायः किसी भी समय में हुआ करता है। मोहन राकेश उस समय के रचनाकारों की युवतम पीढ़ी के सदस्य थे। स्वाधीनता प्राप्ति के समय उनकी आयु इक्कीस बाइस वर्ष की रही होगी।

उनकी पीढ़ी की मानकिसता का निर्माण चौथे पाँचवें दशक में हुआ था। विश्व में वह द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद एक विराट विभीषिका के मुकाबले के बाद की अवसन्नता का दौर था और भारत में स्वाधीनता संग्राम के उतार का काल जिमसें सन् बयालीस के युवा-आन्दोलन का दमन, बंगाल का अकाल, पंजाब और नोआखाली का नर-संहार घटित हुआ था, साम्प्रदायिक हिंसाकाण्डों की गिनती बढ़ती जा रही थी। अन्तरिम-सरकार के गठन ने नेताओं की 'पद-लोलुपता' और 'त्याग' को भुनाने की प्रवृत्तियों को उजागर कर दिया था। इसका परिणाम नयी पीढ़ी में प्रेमचंन्दयुगीन आदर्शवाद तथा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के प्रति एक अश्रद्धा तथा अवमानना का भाव था।

स्वाधीनता का आगमन देश-विभाजन और उसके साथ जुड़ी हिंसा और रक्तपात की त्रासदी के साथ हुआ था। इस त्रासदी का पटाक्षेप गांधी की हत्या के साथ हुआ।

स्वाधीनता का अर्थ रातोरात सबकुछ बदल जाना नहीं हो सकता था लेकिन जो बदला वह बहुत प्रकट और प्रत्यक्ष था। इसलिए निरन्तरता के बावजूद परिवर्तन को इतिहास में 'आजादी के पहले' और 'आजादी के बाद' की सीमा-रेखा और काल-निर्धारण में परिभाषित करना अनिवार्य था।

विभाजन और विस्थापन के शिकार शरणार्थी/पुरुषार्थी, काफिले-दर-काफिले और उनका पुनर्वास बड़े पैमाने पर हिन्दीभाषी प्रदेशों में जनसंख्या की संरचना को बदल रहे थे, जीवन पद्धति और जीवन के नये नमूने सामने रख रहे थे। स्वाधीनता-संग्राम ने पहले ही स्त्री, परिवार, जाति आदि के सन्दर्भ में हिन्दीभाषी समाज के सामान्यतः बन्द स्वभाव में अपेक्षाकृत खुलेपन का सूत्रपात किया था। अब स्वाधीनता के बाद यह एक बड़ी सांस्कृतिक मुठभेड़ थी जिसे आत्मसात करने की प्रक्रिया में जीवन पद्धति में बड़े बदलाव अवश्यम्भावी थे। आरंभिक आशंका और छिटपुट प्रतिरोध के बाद सहयोग, सम्मिलन और सामन्जस्य प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देने लगा। रहन-सहन, खान-पान, तीज-त्यौहार, शादी-ब्याह, उत्सव-पर्व सब में यह प्रभाव प्रकट हुआ।

संविधान रचा गया। भारत दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र बना। जनहित और लोक-कल्याण की उद्दिष्ट नीतियों का निर्माण हुआ। शिक्षा-तंत्र का विकास और विस्तार हुआ। इस विस्तार के कारण शिक्षितों और प्रशिक्षितों के दायरे में वे सामाजिक समुदाय भी शामिल हुए जो अभी तक उसके बाहर थे। स्त्री की शिक्षा और परिणामस्वरूप आर्थिक आत्म-निर्भरता ने उसके आत्म-बिम्ब और अस्तित्वबोध को बदला। यह अस्मितासंपन्न बनी। जीवन से उसकी अपेक्षाएँ बदलीं। पारिवारिक सामाजिक सम्बन्धों में उसकी स्थिति में भी बदलाव आया। मनुष्य कहीं दायरे को फैलाता हुआ तो कहीं फैलाने के लिये जद्दोजहद से पुराने दायरों को तोड़ने के लिये जूझता रहा। उसके अपने अस्तित्व और चेतना के प्रयासों के अलावा संवैधानिक प्रावधानों ने भी दाम्पत्य, परिवार और समाज के भीतर उसकी सुरक्षा और अधिकार की व्यवस्था की। दलित समुदायों के लिये आरक्षण के संवैधानिक प्रावधानों का प्रभाव चाहे तात्कालिक रूप से प्रकट न दिखा हो, वह दूरगामी होने वाला और अन्ततः सामाजिक समीकरणों को बदलने वाला था।

जहाँ तक प्रशासन-तंत्र का प्रश्न है, समाजवादी पार्टी के आचार्य नरेन्द्रदेव का यह कथन प्रायः कहा सुना जाता है कि चलाने वाला चाहे जो हो, तेल पेरने का कोल्हू तो तेल ही पेरेगा। स्वतंत्र भारत में भी प्रशासन-तंत्र का गठन और व्यवहार विदेशी सत्ता के प्रशासन-तंत्र का ही विस्तार था। कम्यूनिस्ट पार्टी ने तो यह तक घोषित किया कि गाँधी के नेतृत्व में चलने वाला स्वातंत्र्य-संग्राम भारतीय जनता का स्वातंत्र्य संग्राम न होकर भारतीय पूँजी का स्वातंत्र्य संग्राम था और आजादी के नाम पर जो मिला वह वास्तव में आजादी थी ही नहीं। लालफीताशाही, कोटा-परमिट, अनियंत्रित भ्रष्टाचार और चोर-बाजारी का घटाटोप बड़े पैमाने पर इसे प्रमाणित करता सा भी लगता है। प्रधानमंत्री की हैसियत से राजीव गाँधी का कथन मशहूर है कि जन-कल्याण योजनाओं का रुपये में पन्द्रह पैसा ही दरअसल जनता के पास पहुँचता है। लेकिन निस्संदेह सारी न्यूनताओं और अधूरी अपेक्षाओं के बावजूद 15 अगस्त 1947 एक वास्तविक तिथि और स्वाधीनता की प्राप्ति एक वास्तविक घटना थी। नयी कहानी का एक-डेढ़ दशक देश के इतिहास में नेहरू-युग का स्वप्नदर्शी दौर था जिसमें भविष्य मात्र संभावना नहीं, आगामी यथार्थ था। संविधान, योजना आयोग, पंचवर्षीय योजनाओं और लोकतंत्र के आन्तरिक तर्क ने जिन परिवर्तनों का सूत्रपात किया उनमें सबकुछ भले ही उचित और काम्य न रहा हो, लेकिन फिर भी

बहुत कुछ था ही जिसके सार्थक योगदान और मूल्यवान परिणामों से इंकार नहीं किया जा सकता।

8.2 नयी कहानी आन्दोलन

स्वाधीनता की पूर्व-संध्या का हिन्दी साहित्यजगत प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कथासाहित्य में परिवर्तन की आरंभिक आहटों से गूँजने लगा था। सन 1936-40 के दौरान विचार के क्षेत्र में एक ओर मार्क्स के माध्यम से ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मानव की आर्थिक-सामाजिक नियति का साक्षात्कार तथा दूसरी ओर फ्रायड के माध्यम से अचेतन मन की गहराइयों, कुण्ठाओं और ग्रन्थियों का नया परिचय था। इन सर्वथा नये विचारों का सम्मोहन एक ओर ज्ञान के नये क्षितिज का विस्तार करता हुआ प्रतीत हो रहा था तो दूसरी ओर प्रेमचंदयुगीन आत्मवाद, आदर्शवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की परम्परा से उच्चाटन का कारण और आधार भी दे रहा था। इस वैचारिक सम्मोहन ने अपना आधार वस्तुगत यथार्थ में रोपने के पहले ही हिन्दी के साहित्य जगत को दो खेमों में विभक्त कर दिया था - एक प्रतिबद्ध तथा दूसरा स्वतंत्र। मार्क्स के सम्मोहन के पास कम्यूनिस्ट पार्टी के संगठन का सहारा भी था और पार्टी-निर्देश की चौहद्दियाँ और दायरे भी। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की शुरुआत में देश और दुनिया का यथार्थ भी बदल रहा था और उसे देखने और रचने की दृष्टि भी। लेकिन इलाचंद्र जोशी, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', 'पहाड़ी', यशपाल जैसे लेखकों में ये विचार रचनात्मकता के स्तर पर अभी केवल विचार ही बन कर जड़ रह जाते थे, अनुभव में ढल कर यथार्थ नहीं बन पाते थे। इस परिदृश्य में उत्तराधिकार को स्वाधीनता के उपरान्त 'नयी कहानी' ने अपनी रचना और विचारणा से एक संश्लिष्ट 'नये यथार्थ' में बदला और रचनात्मक परिणाति दी। नये बोध में घोषित रूप से भावुकता और रूमान के लिये कोई जगह नहीं थी। प्रेमचंद के पूरे कथाकोश में से चुनकर उसने केवल 'कफन' और 'पूस' की रात जैसी कहानियों को पूर्व-परम्परा की विरासत के रूप में स्वीकार किया।

नयी कहानी के आरंभ को लेकर एक निष्कर्षहीन उहापोह चली। मोहन राकेश का पहला संग्रह 'इंसान के खण्डहर' 1950 में आ चुका था। कहानियाँ उसके पहले भी लिख-छप चुकी रही होंगी लेकिन उनकी इन कहानियों में 'नयी' के विशेषण की योग्यता का आगमन नहीं हुआ था। बहस इस बात पर भी चली कि 'नयी कहानी' के अपने दावों के बावजूद उसमें कुछ नया है भी या नहीं। जीवनगत बदलाव को रचनागत बदलाव माना जाय या नहीं? रचना-विधान में परिवर्तन को आधार मानते हुए नामवर सिंह ने निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' (1954) को पहली नयी कहानी कहा है। वास्तविक आरंभ को किसी रचना विशेष के साथ जोड़ना इस बात पर निर्भर है कि कौन सी रचना का विधान हमारे अपने नयेपन के बोध के साथ मेल खाता महसूस होता है और वह अलग अलग पाठक के लिये अलग अलग हो सकता है। 1956 में 'कहानी' पत्रिका का वह विशेषांक आया जिसे दृष्टिगत बदलाव को देखते हुए एक तरह से 'नयी कहानी' के समग्र विकसित कलेवर की प्रस्तुति कहा जा सकता हैं। राजेन्द्र यादव की 'खेल खिलौने' 1951 में प्रकाशित हुई थी। यही कहना उचित है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में फिर एक हलचल के लक्षण 1950 के आसपास दिखाई दिये। यह नयी कहानी आन्दोलन का पूर्वाभास था। सामान्यतः 1950 से 1965 तक का डेढ़ दशक नयी कहानी का पहला दौर है। यूँ इसका सूत्रपात स्वाधीनता के पहले ही, चौथे दशक में हो चुका था। स्वाधीनता के बाद परिस्थितिगत परिवर्तन और बोधगत बदलाव ने कहानी के वस्तुविधान और रचनातंत्र को जिस तरह उसको रचनाकारों ने स्वयं पहचान कर अपने शिल्प और संवेदना को 'नये' की तरह परिभाषित किया और एक सैद्धान्तिक आधार भी दिया जिसने इस हलचल को एक मोड और आन्दोलन की शक्ल दे दी।

कहानी के लिये 'नयी' का विशेषण केवल कालवाची नहीं जिसके अनुसार हर अगली वस्तु पिछली की अपेक्षा नयी होती है और अगली के आते ही खुद पिछली या पुरानी हो जाती है। वह जीवन के लिये 'नये' दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने वाला विशेषण है, आधुनिक चेतना का पर्यायवाची बना कर लाया गया है। इस अर्थ में वह केवल समसामयिकता का नहीं, बल्कि एक दृष्टिकोण, एक मूल्यबोध, चेतना के एक विशेष स्तर का द्योतक है। हम सब जानते है कि आधुनिकता का बोध वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तर्कसम्मत मूल्यचेतना का आग्रही है। अतः उसके लिये कुछ भी ऐसा नहीं है जो शंका और सन्देह के परे हो, और न ही कुछ ऐसा है जो परंपरागत या परिपाटीबद्ध होने के कारण आर्षवाक्य प्रमाण मात्र से स्वीकार्य हो। वह अनुभूति की प्रामाणिकता को सत्य की कसौटी मान कर चलता है और अपने ''जिये हुए, भोगे हुए'' यथार्थ को ही सत्य की प्रतिष्ठा देकर अभिव्यक्त करना चाहता है।

उसके इस आग्रह ने उसे बहुत से आरोपों का अभियुक्त बनाया। स्वीकृत मान्यताओं, निर्धारित आस्थाओं, तथाकथित सनातन परम्पराओं के भंजन जैसे बहुत से समाजद्रोही विचारों को प्रश्रय देने का इल्ज़ाम इस पर लगा लेकिन अब इतना समय बीत जाने के बाद लौट कर देखा जा सकता है कि इसके मूल में प्रचलित और परिपाटीबद्ध जीवन पद्धतियों की घुटन और छटपटाहट थी, बदलती परिस्थितियों और नये भावबोध के सन्दर्भ में अप्रासंगिक होती गयी उचित अनुचित की कसौटियों की परीक्षा का आग्रह था, व्यक्ति की पारिवारिक-सामाजिक भूमिकाओं को अनुभव की प्रामाणिकता से जाँचने का आग्रह था, यह देखने का साहस था कि बने बनाए मिथकों में से कितना सत्यापित होता है अथवा खारिज किया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में बहुत कुछ अतिवादिता की हदों के पार चला जाता है, बहुत कुछ आवेगजन्य फेन और फिचकुर में उबलने और बैठ जानेवाला तात्कालिक किस्म का गुबार होता है। हुआ भी लेकिन अन्ततः अनुभूति और विचारदृष्टि को पहचानने का काम मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर ने किया। इसी वजह से उनके नाम अन्यान्य अनेक 'नये' लेखकों के बीच अलग से रेखांकित हुए और ये हिन्दी कहानी के तीन तिलंगे कहलाए।

राजेन्द्र यादव द्वारा सम्पादित पुस्तक 'एक दुनिया समानान्तर' की भूमिका, कमलेश्वर कृत 'नयी कहानी की भूमिका', मोहन राकेश द्वारा लिखित 'परिवेश' तथा आलोचकों में सुरेन्द्र चौधरी द्वारा लिखित 'नयी कहानीः पाठ और प्रकृति', देवीशंकर अवस्थी द्वारा सम्पादित 'नयी कहानीः सन्दर्भ और प्रकृति' तथा नामवर सिंह द्वारा लिखित 'कहानीः नयी कहानी' को इस आन्दोलन के सन्दर्भ ग्रन्थों की तरह देखा जा सकता है।

स्वाधीनता प्राप्ति के तत्काल बाद के कई वर्ष कई स्तरों पर टूट-फूट तथा मोहभंग के वर्ष थे। संघर्ष के दौरान दूर पर झिलमिलाता हुआ स्वाधीनता का स्वप्न यथार्थ के रूप में अधूरा और अपर्याप्त सिद्ध हुआ। संघर्ष के दौरान विदेशी सत्ता के रूप में एक ऐसा समान शत्रु लक्ष्य की तरह हमारे सामने मौजूद था जिसके विरुद्ध एकजुट होने की जरूरत सबको एक साथ बाँधे रखने का काम कर सकती थी। संघर्ष के दौरान ही विदेशी सत्ता फूट के बीज बोकर इस एकता को खण्डित करने में सफलता पा चुकी थी। संघर्ष के अन्तिम दौर में वह फूट अपने चरम को पहुँच चुकी थी और स्वाधीनता प्राप्ति अपने साथ विभाजन की पीड़ा को लेकर आई थी। समान शत्रु का दबाव सामने से हट जाने के बाद के वर्षों में लोकतंत्र के आन्तरिक तर्क से यह स्वाभाविक ही था कि सबके स्वार्थ और उद्देश्य, हित और लाभ एक दूसरे से अलग हो जाते और विशाल भारतीय जनसंख्या छोटे छोटे समुदायों में बँट जाती क्योंकि हमारे नेता भी ऐसा कोई विराट स्वप्न जनता के सामने रख नहीं सके जो सबके हित को एक साथ बाँध पाता। ऐसा नहीं है कि संघर्ष के दौरान सब कुछ भला और उजला ही रहा होगा लेकिन मोटे तौर पर सच्चाई यह है कि वह आदर्शों पर विश्वास का दौर था और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद आदर्शों से मोहभंग का।

दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन मध्यवर्ग की संरचना में आया। अधिकांश लेखक समुदाय इसी मध्यवर्ग से आता है। जिन व्यवसायों में अब तक के मध्यवर्ग को प्राथमिकता प्राप्त थी

चिकित्सा, वकालत, पत्रकारिता, अध्यापन, सरकारी नौकरियाँ आदि उनमें अब व्यापारी तथा धनी कृषकवर्गों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा था। शिक्षा का दायरा फैल रहा था। आर्थिक साधन तथा सत्ता के वितरण में आए हुए परिवर्तन ने सामाजिक ढाँचे में भी एक बड़ा परिवर्तन उपस्थित कर दिया था। इस कारण से नौकरशाही और साामजिक रूप से प्रतिष्ठित अन्य व्यवसायों में पुराने मध्यवर्ग की साझेदारी घटती गयी और वह हर उस क्षेत्र से बेदखल होता गया जिसमें पैर जमाने के लिये पूँजी की जरूरत थी। भविष्य पर उसकी पकड़ ढीली होती जा रही थी। यह असुरक्षा भी मोहभंग का एक ठोस वस्तुगत कारण समझी जा सकती है। तीसरी महत्वपूर्ण बात औद्योगीकरण, शहरीकरण, और स्थानान्तरण के कारण आयी सामाजिक गतिशीलता और विस्थापन से सम्बन्धित है। संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ। शहरों की ओर पलायन शुरू हुआ। महानगरीय संस्कृति अस्तित्व में आई। अब तक परिचित परिवेश और जाने पहचाने परिवार-बिरादरी में रहते आए लोगों ने अपने आपको अपरिचितों की महानगरीय भीड़ में पाया जहाँ न बिरादरी के अंकुश थे, न सुरक्षा का अहसास। व्यक्ति के भीतर अस्तित्वबोध की हानि, अकेलेपन और अजनबीपन के अहसास प्रबल हो उठे। सामान्यतः ये नयी कहानी की शहरी संवेदना के बहुरचित विषय है।

विषयवस्तु के प्रकारों को अलग अलग कथाधारा के रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया जा सकता है, किया भी गया - शहरी संवेदना, ग्रामीण संवेदना, मध्यवर्गीय संवेदना, अभिजात संवेदना या निम्नवर्गीय संवेदना जैसी कथाकोटियों में विभाजित करके उन्हें अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है लेकिन ध्यान में रखना होगा कि एक ही रचनाकार अनेक विषयवस्तुओं को आधार बना सकता है और एक ही कहानी में संवेदना के अनेक पक्ष और परतें संभव है। एक विभाजन व्यक्तिनिष्ठ संवेदना और समाजनिष्ठ संवेदना का भी किया गया, जिसका एक रूपान्तर आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ भी है। इस किस्म के विभाजन कहानी के मर्म को अछूता ही छोड़ देने के तथा विपक्ष को परिभाषित, खण्डित और तिरस्कृत करने के कुछ सुविधाजनक रास्ते हैं अन्यथा सच तो यही है कि व्यक्ति का एक सामाजिक आयाम है और समाज की एक वैयक्तिक मूर्तिमत्ता। वस्तुतः अनुभूति की प्रामाणिकता का आग्रह और उसके साथ जुड़ा हुआ संवेदनागत, शिल्पगत बदलाव ही नयी कहानी की व्यावर्तक पहचान है।

कहानी अपने शिल्प से अपनी प्रामाणिकता का अर्जन करती है। अज्ञेय और जैनेन्द्र की रचनाओं में इन युक्तियों का सूत्रपात हो चुका था। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, अमरकान्त आदि के लेखन में वे प्रयोग की व्यापकता को प्राप्त हुई। सपाट वर्णन के स्थान पर भावात्मक उठान, दृश्य-विधान, तहदार वस्तु का परत-दर-परत उद्घाटन, रूपकीय विधान द्वारा नाटकीय संक्षेपण, सूक्ष्म पर्यवेक्षण द्वारा छोटे छोटे विवरणों और बारीकियों के जमघट से वस्तुगत सत्यता का आभास, विचार के भावात्मक समतोल की तलाश आदि अनेक ऐसी युक्तियाँ हैं जिनसे कहानी का विधान हर तरह के अनुभव को समेटने लचीलेपन की सामर्थ्य से लैस हो गया। आदि-मध्य-अवसान वाले सीधे सादे कथानकों से लेकर पत्र, डायरी, आत्मालाप, चेतना-प्रवाह, सिंहावलोकन, विहंगम दृष्टि तक के ढेरों प्रयोगों ने कहानी के रचना-तंत्र और युक्तिकोष को समृद्ध किया।

8.3 मोहन राकेश की कहानियाँ और नयी कहानी आन्दोलन

मोहन राकेश ने कहानी, उपन्यास, यात्रावृत्त, निबंध, एकांकी और नाटक इन गद्य की लगभग हर विधा में विशिष्ट योगदान दिया। 'अँधेरे बन्द कमरे', 'नीली रोशनी की बाँहे', 'काँपता हुआ दरिया', 'न आने वाला कल', 'अन्तराल' उनके उपन्यासों के नाम हैं।

'इंसान के खण्डहर', 'नए बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और जिन्दगी', 'पहचान', 'बारिश' उनके छः कहानी संग्रहों के शीर्षक है। जिनमें से 'मेरी प्रिय कहानियाँ' और 'मोहन राकेश की श्रेष्ठ कहानियाँ' शीर्षक संचयन हुए। कहानियों की कुल संख्या छियासठ है जो अब चार खण्डों में उपलब्ध हैं– 'आज के साये', 'रोंये रेशे', 'एक एक दुनिया' और 'मिले जुले चेहरे'।

हिन्दी में नाटक की क्षीण, विरल धारा को उन्होंने न केवल पुनर्जीवन दिया बल्कि नयी ऊँचाइयों पर भी पहुँचाया- 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे अधूरे' का नाम लिये बिना हिन्दी नाटक का इतिहास अधूरा है। उनकी नाट्य-रचनाओं में एक असमाप्त नाटक 'पैरो तले की जमीन' (असमाप्त) है। एक एकांकी संग्रह 'अंडे के छिलके और अन्य एकांकी' का नाम भी है। 'आखिरी चट्टान तक' (यात्रावृत्त), 'समय सारथी' (जीवनी साहित्य), 'बिना हाड माँस के आदमी' (बाल साहित्य) तथा 'बकलम खुद', 'परिवेश' (निबन्ध व अन्य लेख) अन्य गद्य विधाओं को उनका योगदान है।

मोहन राकेश (1925-1972) का पहला कहानी संग्रह 'इंसान के खण्डहर' 1950 में प्रकाशित हुआ। स्वयं मोहन राकेश के शब्दों में 'इंसान के खण्डहर' की कहानियाँ कई दृष्टियों से मेरे बाद के प्रयोगों के साथ एक कडी के रूप में ठीक से जुड़ नहीं पाती। उनके शिल्प और कथ्य दोनों में एक तरह की कोशिशें हैं, एक निश्चित तलाश का कच्चापन।....मैने अपनी शुरू शुरू की कहानियाँ जिन दिनों में लिखी, उनमें से कई एक 'इंसान का खण्डहर' में भी संकलित नहीं है...।'' वस्तुतः इन कहानियों से उस लम्बी विकास यात्रा का अन्दाजा लगाया जा सकता है जो इनके लेखक ने बहुत छोटे अरसे में 'परमात्मा का कुत्ता', 'आद्रा', 'जानवर और जानवर', 'सुहागिनें', 'मिस पाल', 'एक और जिन्दगी', 'ठहरा हुआ चाकू' जैसी कहानियों की प्रौढ़ प्रांजलता तक पहुँचने के लिए तय की।

शहरी संवेदना और असुरक्षित मध्यवर्ग के प्रतिनिधि लेखक

मोहन राकेश की कहानियाँ स्वतंत्र भारत के मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन के काले उजले विविध रंग प्रस्तुत करती हैं। देश-विभाजन, आतंक और असुरक्षा, अर्थतंत्र, शिक्षातंत्र में शोषण, पीढ़ियों का फासला, भ्रष्ट राजनीति और नौकरशाही आदि अनेक विषय उन्होंने उठाए हैं। 'कम्बल', 'मलबे का मालिक', 'ठहरा हुआ चाकू', 'मन्दी', 'जानवर और जानवर', 'नये बादल' आदि इन विषयों की कुछ विशिष्ट कहानियाँ हैं लेकिन बड़े पैमाने पर उन्होंने सम्बन्धों के बदलते हुए समीकरणों की, उनमें भी स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की विशेषतः पड़ताल की है और वही कहानियाँ उनकी ख्याति का आधार भी हैं। मध्यवर्गीय युवा इन के केन्द्र में हैं। बदलते परिवेश ने उसे हताश, कुण्ठित और अकेला छोड़ दिया है। टूटते परिवार ('एक और जिन्दगी', 'सुहागिने'), कलहपूर्ण घर ('क्वार्टर'), विवाहेतर सम्बन्ध ('दोराहा') वातावरण में आतंक ('ठहरा हुआ चाकू') इस सबके बीच निरीह अकेला व्यक्ति प्रायः उनका कथानायक है। जीवन को वह अपनी शर्तों पर अपने तरह से परिभाषित करना चाहता है, यह भी उसके उखड़ेपन और अकेलेपन की एक वजह है।

'मेरी प्रिय कहानियाँ' शीर्षक संचयन की भूमिका में अपने आरंभिक लेखन की भावभूमि का संकेत वे इन शब्दों में करते हैं- ''उन दिनों कई कारणों से मैं अपने को, अपने तब तक के परिवेश से बहुत कटा हुआ सा महसूस करता था। जिन व्यक्तियों और संस्कारों के बीच में पलकर बड़ा हुआ था, उनके खोखलेपन को लेकर मन में बड़ी गहरी कटुता और वितृष्णा थी। घर की पूरी जिम्मेदारी सिर पर होने से मन उसे निभाने की मजबूरी से छटपटाता था। मैं अपने को किसी तरह विरासत के सब सम्बन्धों से मुक्त कर लेना

चाहता था, किन्तु मुक्ति का कोई उपाय नहीं था....मेरी खुद की कहानियाँ इसी मानसिकता की उपज थीं। एक छोटा सा दायरा मात्र तीन चार दोस्तों का, वे सब भी किसी न किसी रूप में अपने अपने परिवेश से ऊबे या कटे हुए लोग थे।''

निरुद्देश्यता, ऊब, निरर्थकता, परिवेश से कटे होना, अजनबीपन, परायापन, संत्रास, अकेलापन, अपरिचय- नयी कहानी के अनेक 'मूड्स' (मनःस्थितियों) में से यह एक प्रबल मूड है और निरन्तर जटिल और बोझिल होते हुए परिवेश की ओर संकेत करता है जिसमें व्यक्ति अपने को मौजूद, बेबस और फँसा पाता है। प्रायः ये उन पात्रों की कहानियाँ हैं जो गाँवों या छोटे शहरों से निकल कर, ग्राम्य अथवा कस्बाई संवेदना को लिये-दिये आजीविका या महत्वाकांक्षा या अन्य किसी कारण से महानगर में आ फँसे हैं और अजनबी परिवेश में खुद को असुरक्षित, अकेला अथवा उच्छृंखल और गैर-जिम्मेदार हो सकने की संभावना में मुक्ति पा रहे हैं। अन्य अनेक लेखकों की तरह मोहन राकेश की अनेक कहानियों में बेमकसद जिन्दगी के अकारण अवसाद में डूबे नायक से मुलाकात होती है। अवसाद का सबसे बड़ा कारण तो लक्ष्यहीनता ही है। 'लक्ष्यहीन' शीर्षक की उनकी एक कहानी भी है जिसमें सिगरेट, शराब, धुँए के छल्ले, विगत के बोझ से दबावग्रस्त मानसिकता का अवसाद अतीतावलोकन के सहारे कथानक की रचना करता है। ऐसे कथानकों में घटनाक्रम अनुपस्थित प्राय हुआ करता है। लगभग सभी लेखकों के पास इस विषयवस्तु की एक न एक रचना मिल ही जाएगी। ऐसी ही रचनाओं के सहारे नयी कहानी की इस धारा पर व्यक्तिवादी तथा समाजनिरपेक्ष होने का आरोप लगा लेकिन इन कहानियों का भी एक ठोस वस्तुगत सामाजिक आधार है। जैसा कि नयी कहानी आन्दोलन के परिचय में संकेतित किया गया, मध्यवर्ग की पुरानी संरचना और जीवन पद्धति में आये हुए अन्तर ने भविष्य पर उसकी पकड़ ढीली करके असुरक्षा का भाव बढ़ा दिया है, उसका परिचित परिवेश बदल दिया है और उसे जड़ों से काट कर अलग कर दिया है।

सम्बन्धों के बदलते समीकरण और विकल्प की तलाश

संयुक्त परिवारों के विघटन और इकाई परिवारों के गठन के पीछे शहरीकरण, आजीविका और रोजगार के कारणों से स्थानान्तरण, प्रवास, पलायन, प्रस्थान जैसे ठोस सामाजिक आर्थिक कारण थे लेकिन उनका परिणाम केवल नये गठन तक सीमित नहीं रहा। उसने जीवन का ढंग और सम्बन्धों का भावात्मक व्यवहार बदल दिया। सबसे बड़ी संख्या स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के बदलते समीकरणों पर लिखित कहानियों की है, इतनी कि उसे नयी कहानी का केन्द्रीय सरोकार कहा जा सकता है।

शिक्षित, आत्मनिर्भर, सत्व-संपन्न नयी स्त्री के आमने-सामने पुरुष के कातर अहं की अपर्याप्तता इन कहानियों में झगड़े की जड़ है। शिक्षा के व्यापक प्रसार तथा स्त्री के आत्मविकास ने इसे बृहत्तर पैमाने पर एक सामाजिक तथ्य का रूप दे दिया है। मोहन राकेश की कहानियों का भी यह एक प्रमुख विषय है। 'एक और जिन्दगी', 'सुहागिने', 'फौलाद का आकाश' आदि इस विषय पर उनकी विशिष्ट कहानियां है।

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पारिवारिक-सामाजिक अस्तित्वमत्ता का बीज-बिन्दु है। लेकिन अभी हाल तक हमारी अलोचना विषयवस्तु के चुनाव में उसकी पड़ताल को प्राथमिकता देने का अर्थ व्यक्तिनिष्ठता मानती आई है। नयी कहानी आन्दोलन के जिन लेखकों को केवल 'व्यक्तिनिष्ठ' संवेदना की कलावादी अभिव्यक्ति का ठप्पा लगाकर रफ़ा-दफ़ा कर दिया जाता है उनमें मोहन राकेश का नाम भी शामिल है। कहा गया है कि केवल अनुभव या आत्मानुभव के आधार पर लिखी हुई मोहन राकेश और निर्मल वर्मा की बहुत सी कहानियाँ पाठक को चमत्कृत तो करती है लेकिन उन्हें कहीं ले नहीं जाती, कोई दिशा नहीं देती। उन पर ये आरोप भी है कि मध्यवर्ग के व्यापक सत्य की अपेक्षा नितान्त आत्मग्रस्त

वैयक्तिक सत्य को अपना विषय बनाते हैं, रूढ़ि और परम्परा के विरोध के नाम पर सभी प्रकार के सामाजिक मूल्यों का विरोध करते हुए एक मूल्यहीनता और हताशा की स्थिति प्रतिष्ठित करते हैं, इस कमी को छिपाने के लिये रूप और शिल्प का सहारा लेते हैं, बिम्बबहुल, प्रतीकबहुल कलावाद की परिणाति में कहानी को ले जाते हैं। लेकिन यह समझ प्रायः कहानी के मर्म का सामना करने से इंकार है।

उदाहरण के लिए 'एक और जिन्दगी' की एक पुनः पाठचर्या की जा सकती है। इस कहानी में जीवन में विकल्पों की तलाश को लेकर यह कथन उनके समग्र लेखन का बीज-भाव माना जा सकता है।

''क्या सचमुच पहले की जिन्दगी को मिटाकर इंसान नये सिरे से जिन्दगी शुरू कर सकता है? जिन्दगी के कुछ वर्षों को वह एक दुःस्वप्न की तरह भूलने का प्रयत्न कर सकता है? कितने इंसान है जिनकी जिन्दगी कहीं न कहीं, किसी न किसी दोराहे से गलत दिशा की तरफ भटक जाती है। क्या उचित यह नहीं कि इंसान उस रास्ते को बदल कर अपने आप को सही दिशा में ले आए? आखिर आदमी के पास एक ही तो जिन्दगी होती है, प्रयोग के लिये भी और जीने के लिए भी। तो क्यों आदमी एक प्रयोग की असफलता को जिंदगी की असफलता मान ले?''

''एक और जिन्दगी' को टूटे हुए विवाह में दो व्यक्तियों के अहं की टकराहट में पिसते, चोट खाते बच्चे की कहानी की तरह पढ़ा जाता है। इस पाठ में वह भावुकता का अतिरेक सी जान पड़ती है। लेकिन वह केवल इसका कथानक है। कथानक की वैचारिक तह में विकल्प की तलाश में जीवन के साथ प्रयोग और उससे जुड़े अनश्चिय और असुरक्षा का, लीक छोड़कर चलने के खतरों की आशंका का सवाल समाया हुआ है। मोहन राकेश पर भावुकता का आरोप भी लगाया जाता है लेकिन उनकी चरित्र-परिकल्पना में मनुष्य एक ओर बुद्धि और विवेक, दूसरी ओर भाव और आवेग जैसे ध्रुवों में साफ साफ बँटी हुई इकाई नहीं है। वे 'बुद्धि या भाव' नहीं 'बुद्धि और भाव' के कथाकार हैं। कहानी का नायक प्रकाश ''फिजूल की भावुकता में कुछ नहीं रखा है'' से लेकर ''क्यों वह इस अतीत से खुद को मुक्त नहीं कर लेता'' की विवशता और ''जब उसका एक प्रयोग सफल नहीं हुआ तो कैसे कहा जा सकता था कि दूसरा सफल होगा'' की आशंका के बीच चक्कर काटता है। यह कोरी भावुकता नहीं, तर्कसम्मत विवेकवान निर्णय की प्रक्रिया है, एक तकलीफदेह प्रक्रिया है और कथानक की रचना में ठहरे हुए जीवन का क्रियाकलाप ही उसकी घटनाविहीन कालावधि है। स्त्री-विमर्शीय पाठ के द्वारा इसमें पुरुष के कातर अहं की प्रामाणिक समीक्षा भी पढ़ी जा सकती है। भाषा का बिम्बधर्मी काव्यात्मक व्यवहार अनिश्चय से निकल कर तकलीफदेह निर्णय तक पहुँचने की प्रक्रिया को ऐन्द्रिय संवेद्य बनाता है।

अनुभव की प्रामाणिकता का अर्थ

सत्य/यथार्थ के ज्ञान की अवधारणाओं के विषय में, भाववाद और अनुभववाद के बीच थोड़ी अस्पष्टता, उलझाव और गलतफहमी भी इस स्थिति का एक कारण है। भाववाद का अर्थ वस्तुगत-आधारहीन मनस्तरंग है, अनुभववाद सत्य को ऐन्द्रिय संवेद्य बनाकर प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा वस्तुगत आधार प्रदान करता है। अनुभव की प्रामाणिकता का मतलब कोरी भावुकता नहीं है। इस उलझाव की वजह से यह बात परस्पर विरोधी और स्वतोव्याघाती प्रतीत होती है कि एक ओर आधुनिकता के तकाजे से वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तर्कसंगत व्यवहार और बुद्धिसंगत निर्णय की माँग की जाए तथा दूसरी ओर अनुभव की प्रामाणिकता का आग्रह भी रखा जाए।

वस्तुतः दर्शन के क्षेत्र में बुद्धिवाद और अनुभववाद परस्पर विरोधी सम्प्रदाय हैं। अवश्य, यद्यपि वहाँ भी उनका विरोध आत्यंतिक नहीं है, लेकिन ऐसी किसी भी बहस में यह याद रखना जरूरी है कि साहित्यिक रचना के माध्यम से मिलने वाले ज्ञान की अपनी अलग कोटि है। वह तर्क-विवेक-अनुभव का सम्पृक्त घोल है और विचार की ऐन्द्रिय-संवेद्य

परिणति है। व्यक्ति और वस्तु उसके लिये एक ही सत्य और ज्ञान के दो परस्पर पूरक सिरे हैं। तर्क-विवेकसम्मत व्यवहार का अर्थ उद्देश्यसंगत व्यवहार है। कहानी की रचना में निहित उद्देश्य/विचार बताता है कि उसका कलात्मक व्यवहार विवेकसम्मत है या नहीं। खास तौर से अगर रचना के माध्यम से प्रत्येक परंपरागत, परिपाटीबद्ध आर्षवाक्यप्रमाण पद्धति और मूल्य को शंका और संदेह से जाँचने का बीड़ा उठाया गया है तो उसके जिये हुए, भोगे हुए यथार्थ को ही निर्विवेक घोषित किया जा सकता है, तर्कातीत को तर्कहीन और असंगत ठहराया जा सकता है लेकिन इतने से वे असत्य नहीं हो जाते। उसे रचनाविधान द्वारा ही विश्वसनीय तथा वास्तविक बनाया जा सकता है। बिम्ब और प्रतीक तब कोरा कलावाद नहीं, विचार की विश्वसनीयता और वस्तुगत परिणति के अनिवार्य भाषिक उपकरण सिद्ध होते हैं।

हिन्दी के रचना-संदर्भ में व्यक्तिनिष्ठता का अर्थ समाज-विमुखता नहीं हैं, बल्कि वह समाज नामक वैचारिक अमूर्तन को एक मूर्त चेहरा, रूपगत साकारता और वैयक्तिक जीवन्तता प्रदान करने का नाम है। इसके अलावा भी, तथाकथित व्यक्तिनिष्ठ धारा के लेखकों के समग्र लेखन को देखा जाय तो शायद प्रत्येक के भण्डार में प्रकट और स्थूल समाजनिष्ठता की सूची में गिनाए जाने लायक अनेक कथानक मिलेंगे। आगामी पृष्ठों में 'मलबे का मालिक' नामक कहानी के विस्तृत विश्लेषण से आप इस मूर्तन की प्रक्रिया को समझ सकेंगे/सकेंगी।

8.4 मलबे का मालिक : पाठ-बोध और प्रक्रिया

यद्‌यपि पाकिस्तान का प्रस्ताव देश के सामने तीस के दशक में ही सामने आ गया था और चालीस के दशक में विभाजन के लिये दबाव बढ़ता जा रहा था फिर भी 1947 में विभाजन की वास्तविक घटना को देश ने बड़े धक्के की तरह महसूस किया। अखण्ड भारत का बहुभाषी, बहुधर्मी, संस्कृतिबहुल भूगोल सदियो से संचित सामंजस्य और स्थायित्व से मण्डित था। एक सामान्य भारतीय के लिये देश का विभाजन चाहे कितना भी अकल्पनीय और अचिन्तनीय रहा हो, एक राजनीतिक निर्णय ने आम आदमी की प्रार्थनाओं और शुभकामनाओं को ध्वस्त कर दिया।

विभाजन से सीधे प्रभावित प्रदेशों की भाषाओं में इस संघात के तात्कालिक अनुभव ने रचनात्मक अभिव्यक्ति पाई- पंजाबी, बंगाली, उर्दू और सिन्धी। हिन्दी प्रदेश विभाजन के उपरान्त विभाजन के प्रभावों से गहराई से सम्पृक्त था। हिन्दी के अनेक महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध लेखकों की मातृभाषा पंजाबी है- अज्ञेय, यशपाल, मोहन राकेश आदि। उनके माध्यम से विभाजन की कथावस्तु हिन्दी में आई। 'मलबे का मालिक' इसी विषयवस्तु की कहानी है। विभाजन के विषय में इसके अलावा उनकी 'कम्बल' नामक एक और कहानी भी है। उसमें शरणार्थी-शिविर के निवासियों की मजबूरियों और दुर्दशा का यथार्थ चित्रण करते हुए दिखाया गया है कि जिन्दा मात्र रह पाने की न्यूनतम सीमारेखा पर सम्बन्ध कितने संवेदनशील और निरर्थक हो उठते हैं।

'मलबे का मालिक' मोहन राकेश की एक विशिष्ट कहानी है। मूल विचारसूत्र की तरह देखा जाय तो 'लन्दन की एक रात' (निर्मल वर्मा) तथा 'अमृतसर आ गया है' (भीष्म साहनी) के समान यह कहानी भी इस बात की पहचान है कि राजनीति द्वारा खींची गयी दीवारों के आरपार विरोधी पक्षों में जबर्दस्ती बाँट दिये गये आम आदमी की पीड़ाएँ एक जैसी हैं। 'लन्दन की एक रात' में कथा-सन्दर्भ विश्व-युद्धों की उपरान्त-छाया में यूरोप, इंग्लैण्ड, साउथ अफ्रीका की रंगभेद राजनीति से तथा 'अमृतसर आ गया है' में देश के विभाजन की पूर्व संध्या के साम्प्रदायिक वातावरण से लिया गया है। 'मलबे का मालिक'

में चित्रित कालसंदर्भ आज़ादी के साढ़े सात साल बाद का है। तीनों ही कहानियों में चित्रित विराट राजनीतिक संघात लाखों की जनसंख्या के जीवन पर भारी पैमाने का दूरगामी प्रभाव डालने वाला काण्ड है। काण्ड का दारुण पक्ष यह है कि यहाँ शेक्सपीयर की त्रासदी की तरह कोई 'हमार्शिया' अथवा अपना ही कोई दोष या दुर्बलता या भूल-गलती त्रासदी का कारण नहीं जो उसके न्यायोचित होने का परितोष दे। जो सबसे अधिक निरीह और निर्दोष है वही सबसे अधिक दण्डित होता है क्योंकि उसको बचने या मारने के हथकण्डे नहीं आते।

विचारधारा या मतवाद जब राजनीति में जुड़कर जीवन के नियामक तत्व बन जाते हैं, तब उनकी भयावह ताकत का असली अन्दाजा साधारण जन की ज़िन्दगियों में उनके ध्वंसात्मक प्रभाव से लगाया जा सकता है। जिनका इस स्थिति को पैदा करने में न कोई हाथ है न हिस्सा, उन्हीं को यह ध्वंस सबसे अधिक दारुण रूप से झेलना पड़ता है। समान रूप से भुक्तभोगी होने के कारण जो लोग एक दूसरे की स्थितियों और समस्याओं को सबसे अधिक गहराई से समझ और आपस में बाँट सकते हैं, वे ही शत्रुता का निर्वाह करना सबसे ज्यादा जरूरी समझते हैं। समान नियति के भागीदार होते हुए भी वे प्रतिपक्षी हैं लेकिन क्या सचमुच? 'मलबे का मालिक' की वस्तु प्रथम पृष्ठ से अन्तिम पृष्ठ के बीच तय की गयी यात्रा के दौरान व्यक्तिनिष्ठता के जरिये दोनो प्रमुख पात्रों की मंशाओं की छानबीन करते हुए स्थूल वस्तुगत यथार्थ की भीतरी परतों में उतार ले जाती है और अन्त में एक कायाकल्प की प्रक्रिया की शुरुआत के साथ वापस उभर कर उस मंशा को एक नया आकार दे देती है।

कथासूत्र

कहानी का आरंभ इस सूचना से होता है कि विभाजन के साढ़े सात साल बाद हाकी मैच देखने के बहाने लोगों की एक टोली लाहौर से अमृतसर आई है। उनके आने का असली कारण तो अपने छूट गये घरों और बाजारों को एक बार फिर देख पाने का चाव ही है। मानो देश के विच्छेद ने जिस अंग को काटकर अलग किया वह स्वतंत्र देश के रूप में नया जन्म लेकर भी पूरी तरह से विच्छिन्न और स्वतःसम्पूर्ण नहीं हो गया। सीमान्त के दोनों तरफ इस विच्छेद का रक्तस्राव महसूस किया जाता रहा क्योंकि स्मृतियों और लगावों का देश सिर्फ नक्शा नहीं जिसे काट कर दो अलग अलग हिस्सों में बाँटा जा सकता हो।

कहानी के आरंभ में अमृतसर के बाजारों का चित्र बरबस 'उसने कहा था' के आरंभिक चित्र की याद दिलाता है। दोनो ही कहानियों का आरंभ बाजारों के विस्तृत चित्रण द्वारा वातावरण की सृष्टि से होता है। 'मलबे का मालिक' के बाजार में एक त्रासदी की कसम और कचोट का अहसास है जिसकी निचली परत में एक 'सब-टेकस्ट' (एक लिखन्त में निहित किसी दूसरी लिखन्त का अहसास) की तरह 'उसने कहा था' के बाजार में पंजाब के जीवन के उल्लास की धड़कन की याद उस कचोट को और भी गहरा करती है। इतना ही नहीं, इन आगन्तुकों के सहारे लाहौर के बाजारों की याद भी इधर आ निकलती है और सीमान्त के दोनो तरफ एक ही भावना की मौजूदगी का अहसास कराती है।

इन्हीं बाजारों में एक बाजार बाँसाँ भी है, जो कहानी का घटनास्थल है। यहाँ तक पहुँचने के लिए एक सामूहिक चित्र है। यहाँ तक लगता है कि "लाहौर एक शहर नहीं, हजारों लोगों का सगा-सम्बन्धी है, जिसके हाल जानने के लिये वे उत्सुक हैं। लाहौर से आए लोग उस दिन शहर भर के मेहमान थे जिनसे मिलकर और बातें करके लोगों को बहुत खुशी हो रही थी।" इस विहंगम दृश्य के बाद कहानी बाजार बाँसाँ की ओर रुख करके 'फोक्स-मोड' में आ जाती है और साक्षात् उपस्थित दृश्य की तरह पाठक को अपने भीतर ले जाकर घटित होती है। विभाजन के दौरान बाजार बाँसाँ में लगी अमृतसर की सबसे

अधिक भयानक आग ने हिन्दू-मुस्लिम समेत सारे इलाके को लजाया था और अब बन चुकी या बन रही नई इमारतों के बीच-बीच में मलबे के ढेर अभी तक बाकी थे। इस बाजार में आज भी चहल-पहल नहीं क्योंकि यहाँ को याद करने वाला या लौटकर आने वाला कोई नहीं एक गनी मिया के सिवाय। ज्यादातर लोग या तो अपने मकानों के साथ ही शहीद हो गये थे या लौटकर आने की हिम्मत नहीं रखते थे। जाहिर है कि वह अमृतसर का एक बदहाल विपन्न इलाका है। कहानी इन्हीं गनी मिया और मलबे के इन्हीं ढेरों में से एक ढेर के बारे में है जो कभी उसका घर था।

गनी मियाँ एक बूढ़ा बदहाल मुसलमान है जो संयोगवश विभाजन के काफी पहले शहर के बाहर चला गया था। इसलिये वह अकेला बचा रहा, बाकी परिवार दंगों में मारा गया। वह बुढ़ापे में अकेला इस संघात को जैसे तैसे सहता हुआ मानो आखिरी बार आखिरी इच्छा की पूर्ति की तरह अपना घर देखने आया है। लेकिन शुरू में वह एक अजनबी है जिसे गली में दौड़ गयी अफवाह और आशंका के तहत बच्चे उठाने वाला भी समझ लिया जाता है लेकिन फिर वह गली के बाशिन्दे चिरागदीन दर्जी के पिता गनी मिया की तरह पहचाना जाता है। गली के पास एक रहस्य है-उसके नये घर पर मुहल्ले के गुंडे रक्खा पहवान की नजर थी और गनी मियाँ के बेटे की सपरिवार हत्या के लिये वही, इसी कारण से ही, जिम्मेदार है। यह अलग बात है कि उसके हाथ आने के पहले ही मकान को किसी ने आग लगा दी और वह आग लगाने वाले को जिन्दा जमीन में गाड़ देने का इरादा लिये बैठा रह गया। पिछले साढ़े सात सालों से वही अनी दादागिरी के बूते और गुंडागर्दी के आतंक के बल पर स्वयं को इस मलबे का मालिक मानता और बाकी गली से भी यही मनवाता चला आ रहा है। इस रहस्य को गनी मियाँ नहीं जानता। वह पहले अपने घर की टूटी चौखट से, और फिर उसी हत्यारे रक्खा पहलवान से गले मिल कर रोता है क्योंकि उनकी स्मृति में रक्खा पहलवान ही सबसे सगा था, उसका बेटा चिरागदीन इसी भरोसे अमृतसर में टिका रह गया था कि रक्खा पहलवान के रहते उसे कुछ नहीं हो सकता।

ग़नी मियाँ के इस भरोसे और आत्मीयता की अभिव्यक्ति से रक्खा पहलवान के भीतर कुछ ऐसा होता है कि उसे पसीने छूट जाते हैं, मुँह सूख जाता है और रीढ़ की हड्डी को सहारे की जरूरत महसूस होने लगती है। कुल घटनाक्रम इतना ही था कि गनी मियाँ आया था, रोया था और वापस चला गया था लेकिन इतने भर के बीच ऐसा कुछ हुआ है कि गली में पास-पड़ोस के रिश्तों के समीकरण बदल गये है। ग़नी मियाँ के कातर रुदन में गली ने रक्खा पहलवान की ऐसी तस्वीर देखी है जिसने थोड़ी देर के लिये ही सही, उसका रोब और दबदबा खत्म सा कर दिया है, उसके भय और आतंक को उसके प्रति रोष और असहिष्णुता में बदल दिया है, उनको निडर कर दिया है। रक्खा पहलवान के भीतर भी कुछ बदल सा आ गया है। मुहल्ले के साथ साथ खुद रक्खे ने भी अपनी तस्वीर के ऐसे रुख से परिचय पाया है जिसके लिये वह शायद शार्मिन्दा है। लोगों को सट्टे के गुर और सेहत के नुस्खे बताने वाले रोज के सान्ध्य कार्यक्रम की बजाय आज वह अपने शागिर्द लच्छे को अपनी पन्द्रह साल पहले कि वैष्णे देवी यात्रा के किस्से सुना रहा है। लेकिन फिर भी यह हृदय-परिवर्तन की आदर्शवादी कहानी नहीं, यथार्थ के स्वाभाविक निरूपण की कहानी ही है।

सामुदायिक पीड़ा का वैयक्तिक बयान

आप जानते है कि चरित्र-परिकल्पना की दो कोटियाँ है। पहली कोटि में विशिष्ट विलक्षण चरित्र जिसे आचार्य शुक्ल ने किंचित असहिष्णुतापूर्वक व्यक्ति-वैचित्र्यवाद के खाते में रखा था और दूसरी कोटि में प्रतिनिधि चरित्र जिनके अस्तित्व में एक पूरे समुदाय का जीवन, विश्वास, संस्कार पद्धति, प्रथाएँ प्रतिध्वनित होती हैं। लेकिन प्रतिनिधि चरित्र भी

कोई बेनाम, बेचेहरा निर्वैयक्तिक अस्तित्व नहीं होते। लेखक सूक्ष्म निरीक्षण से उन्हें व्यक्ति बनाता है क्योंकि साहित्य से मिलने वाला ज्ञान साधारणीकरण अथवा तादात्म्य की विधि से मिलता है। तादात्म्य किसी मूर्त, जीवित व्यक्ति सत्ता के साथ ही संभव है। व्यक्ति के पास अपनी एक निजी कथा, अपनी आदतें और स्वभाव, सम्बन्धों के तानेबाने, स्मृतिकोष और नियति होती है जिनके कारण वह अन्यों से विशिष्ट होता है और लेखक के व्यंजना-कौशल तथा अभिव्यक्ति क्षमता के द्वारा प्रस्तुत होकर निर्विशिष्ट तथा अन्यों के समान भी होता है और लेखक के व्यंजना-कौशल तथा अभिव्यक्ति क्षमता के द्वारा प्रस्तुत होकर निर्विशिष्ट तथा अन्यों के समान भी हो जाता है। साधारणीकरण की यही योग्यता है और सामान्य का यही अर्थ है - समम् च अन्यम् च। समान भी, अन्य भी। 'मलबे का मालिक' का गनी मिया लाहौर से आई टोली का सदस्य है लेकिन बाजार बाँसाँ की इस गली तक पहुँचने वाला वह अकेला ही है। वह उस अरूप, अनाम, अनुपस्थित समुदाय का उपस्थित चेहरा है जो यहीं मर-खप गये, बच कर जा नहीं सके, या बचे तो वापस आने की हिम्मत या साधन नहीं जुटा सके। उसकी यात्रा का गंतव्य टोली के बाकी लोगों की यात्रा से अलग है। उनके लिये स्मृति मानो एक विनोद यात्रा है, आतिथ्य और सत्कार का एक मौका। गनी मियाँ के लिये यह यात्रा अपनी अन्तहीन पीड़ा के उत्स तक लौट कर सान्त्वना की तलाश का प्रयास है। दंगों में अपना पूरा परिवार गँवा बैठने के बाद भी मन में कहीं असंभव सी उम्मीद है कि घर वहीं, वैसा ही बाकी होगा। रक्खा पहलवान के सवाल के जवाब में वह कहता है, ''क्या हाल बताउऊ रक्खे...मेरा हाल तो मेरा खुदा ही जानता है।'' इन बचे खुचे भविष्यहीन दिनों में उसके हिस्से के सारे नाते रिश्ते यहीं इसी गली में पीछे छूट गये हैं, जहाँ वह आया तो सही लेकिन जहाँ से उसे वापस जाना ही है, जहाँ उसका घर एक मलबे का ढेर है लेकिन रक्खे पहलवान से वह कहता है ''तू सच पूछे तो मेरा यह मिट्टी भी छोड़ कर जाने का मन नहीं करता।'' कहानी की घटनात्मक संरचना इतनी ही है - गली के मुहाने पर अजनबी सा खड़ा गनी बच्चा उठाने वाला समझ लिया जाता है, फिर स्मृति की तहें और पहचान की परतें खुलती हैं, गली के भीतर प्रवेश और मलबे के ढेर तक की यात्रा में वह अपनी समूची जिन्दगी की आशाओं, आकांक्षाओं, नाते-रिश्तों के अवशेष का साक्षात्कार करता है और नियति को स्वीकार करने की हालत में आता है।

रक्खा पहलवान का चरित्र खींचने में लेखक ने उसके कहे बोले से कम, उसकी देहभाषा और गलीवालों की - दरअसल घरों में जा छिपी, खिड़कियों पर खड़ी औरतों की चेहमेगोइयों से अधिक काम लिया है। वह ठेठ गुंडागर्द, लुटेरे, दादा का चित्र हैं।''.... रक्खा आदमी नहीं साँड है, दिन भर साँड की तरह गली में घूमता है''.... ''रक्खे मरदूद का घर न घाट....इसे किसी की माँ बहन का लिहाज था?'' उसके चित्रण में यह अल्पभाषिता कहानी को शोर, स्फीति और हाहाकार के आडम्बर से बचाती है, गली की स्मृति में चिरागदीन की सपरिवार हत्या के प्रसंग को भी ठण्डे, निरावेग, किंचित व्यंग्यपूर्ण टोन में न्यूनतम तफसीलों में बयान करती है और मलबे से मुलाकात वाले क्षण के आवेग की तीव्रता के चित्रण में नाजुक सन्तुलन को साधते हुए संवदेनशीलता के स्तर को कायम रखती है।

आमना-सामना, ऐन्द्रिय-संवेद्य और अनुभव-प्रत्यक्ष

कथा का मर्मबिन्दु इस जगह है - गनी मिया और रक्खे पहवान का आमना-सामना। गली भर की चेहमेगोइयों को यह उम्मीद और तमन्ना है कि साढ़े सात साल पहले की सपरिवार हत्या और बलात्कार की वह घटना किसी न किसी तरह जरूर गनी तक पहुँच जाएगी, जैसे मलबे को देखकर ही गनी को अपने आप सारी घटना का पता चल जाएगा,

हालाँकि पता चल जाने से भी गनी क्या कर लेगा, इस बात की तरफ कोई ध्यान या टीका-टिप्पणी इन चेहमेगोइयों में नहीं। उनके भय, आक्रोश और वितृष्णा का पात्र रक्खा पहलवान है जो ''बड़ा मलबे का मालिक बनता था! असल में मलबा न इसका है, न ग़नी का। मलबा तो सरकार कि मिल्कियत है। मरदूर किसी को वहाँ गाय का खूँटा तक नहीं लगाने देता!''

कहानी में इस उम्मीद का पहला क्षण आशंका का है - रक्खे पहलवान के शागिर्द लच्छे के शब्दों में, ''अगर मनोरी ने उसे कुछ बता दिया तो?'' दूसरा क्षण उत्तेजना का - गली वालों को चेहमेगाइयों में, ''अब दोनों आमने सामने आ गये है तो बात जरूर खुलेगी... फिर हो सकता है दोनों में गाली गलौज भी हो....अब रक्खा गनी को हाथ भी नहीं लगा सकता। अब वे दिन नहीं रहे...।'' तीसरा क्षण थोड़ी निराशा का, ''...मनोरी भी डरपोक है। इसने गनी को बता क्यों नहीं दिया कि रक्खे ने ही चिराग और उसकी बीबी बच्चों को मारा है''।

और गनी के चले जाने के बाद भी इन चेहमेगोइयों में यह उम्मीद बाकी है कि मनोरी ने गली से निकल कर गनी को जरूर सब कुछ बता दिया होगा...रक्खा अब किस मुँह से लोगों को मलबे पर गाय बाँधने से रोकेगा?

इन्हीं गलीवालों में साढ़े सात साल पहले की उस रात के साक्षी भी हैं जिन्होंने अपने दरवाजे बन्द करके अपने को उस घटना के उत्तरदायित्व से मुक्त कर लिया था। अपने भय और आतंक से अशक्त लोग आज गनी के आने और चले जाने के बीच जिस किसी तरह उसको असलियत जता देने की कामना में वस्तुतः क्या अभिव्यक्त करना चाहते हैं?

लेकिन गनी को असलियत आखिर तक पता न चलने के बावजूद, या शायद इसी वजह से, रक्खा पहवान के भीतर कुछ होता है। गनी उसके सामने बैठा है, एक बेदखल बूढ़ा, असहाय, बिना किसी अधिकार या अधिकार के दावे या तेवर के, महज आत्मीयता और भरोसे में, निहत्था और निरीह - ''खुदा नेक की नेकी बनाए रखे, बद की बदी माफ करे। मैने आकर तुम लोगों को देख लिया, सो समझूँगा कि चिराग को देख लिया। अल्लाह तुम्हें सेहतमन्द बनाए रखे।''

इस नेकी और निरीहता के साथ रक्खे पहलवान का यह आमना सामना अपने आवेग की तीव्रता से दैहिक और ऐन्द्रिय-संवेद्य, अनुभव-प्रत्यक्ष, वास्तविक और प्रामाणिक होकर साकार बनता है,- ''रक्खे ने सीधा होने की चेष्टा की क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी बहुत दर्द कर रही थी। अपनी कमर और जाँघ के जोड़ों पर उसे सख्त दबाव महसूस हो रहा था। पेट की अँतड़ियों के पास से जैसे कोई चीज उसकी साँस को रोक रही थी। उसका सारा जिस्म पसीने से भीग रहा था और उसके तलुओं में चुनचुनाहट हो रही थी। बीच बीच में नीली फुलझड़ियाँ सी ऊपर से उतरती और तैरती हुई उसकी आँखों के सामने से निकल जाती। उसे अपनी जबान और होठों के बीच एक फासला सा महसूस हो रहा था। उसने अँगोछे से होंठों के कोनों को साफ किया। साथ ही उसके मुँह से निकला ''हे प्रभु, तू ही है, तू ही है, तू ही है!''

यह सत्वोद्रेक का चित्र है, उस तर्कातीत अनुभूति का, अचेतन की अवश्यकता का जो आदमी के सजग सचेत नियंत्रण के बाहर है। उसे यहाँ तक पहुँचाने के लिए कहानी स्थितियों और गतियों के चित्रण से अपना एक तर्क रचती है जिसके चरम पर यह सत्वोद्रेक घटित होता है। यह सत्वोद्रेक कहानी को संवेदना के सामान्य स्तर से उच्चतर तापमान पर ले जाता है। उसकी तर्कसम्मति या विवेकसंगति का फैसला तार्किकता के

किसी बने बनाए चौखटे के अनुसार नहीं हो सकता। देखना होगा कि कहानी का उद्देश्य, अन्तिम गन्तव्य क्या है? गनी की ताकत को कहानी किस जगह अवस्थित करती है।

रक्खे पहलवान को अपने शागिर्द लच्छे पहलवान से सूचना मिलती है कि ''गनी अपने मलबे पर बैठा है'' तो वह कहता तो है कि ''मलबा उसका कैसे है, हमारा है'' लेकिन आशंकित भी हो जाता है कि कहीं मनोरी ने उसे कुछ बता तो नहीं दिया अथवा और तो किसी से गनी की बात नहीं हुई? यह आशंका गनी के नैतिक अधिकार की अनजाने, अनचाहे स्वीकृति है, स्वयं अपने दावे की अनाधिकार चेष्टा पर उठ आया सन्देह भी है। गनी की निहत्थी आत्मीयता उसे पूरी तरह निशस्त्र और निष्कवच कर देती है। कहानी पहले ही मलबे से गनी की मुलाकात के क्षण में उसकी अनावृत्त, अनाच्छठादित, निर्वस्त्र पीड़ा के साथ पाठक का आमना-सामना करवा चुकी है, भले ही उस दृश्य में रक्खा पहवान मौजदू नहीं है लेकिन पाठक की मानसिक तैयारी हो चुकी है। रक्खा पहलवान के निष्कवच समर्पण में उसे मानो अपने ही सत्वोद्रेक का प्रतिबिम्ब मिलता है। इसीलिए, जैसा कहा, यह हृदय-परिवर्तन की आदर्शवादी कहानी नहीं है, यथार्थ के स्वाभाविक निरूपण की ही कहानी है। गनी के जाने के बाद मलबे के पास लोकू पण्डित की भैंस को देखकर वह 'आदत के मुताबिक' उसे धक्के देकर हटाने लगता है। 'आदत' उसे फिर रक्खे पहलवान बना देगी या नहीं, इस ओर कहानी कोई संकेत नहीं करती। यह उसके व्यंजना कौशल का हिस्सा है।

'मलबा' और 'मालिक' : प्रतीकार्थ

इसी व्यंजना-कौशल के सहारे 'मलबा' बिना किसी प्रत्यक्ष आलंकारिकता के, एक वस्तुस्थिति के रूप में स्वाभाविक प्रसंगों और विवरणों के जरिये ही कहानी को अनेकपरतीय अर्थवत्ता देनेवाले सघन बिम्ब और प्रतीक में बदल गया है।

अर्थ की पहली परत हिंसा और विनाश तक ले जाने वाली मानवीय महत्वाकांक्षा की निरर्थकता है। पहवान ने जिस मकान को हथियाने की नीयत से चिराग की हत्या की थी, वही मकान उसे जले हुए मलबे का ढेर बनकर मिला। ताकत और हिंसा के बल पर मिली हुई जीत मलबे की भी सन्दिग्ध मिल्कियत का ही मालिक बनाती है। चूँकि यहाँ चित्रित हिंसा सामान्य नागरिकों को भी हत्यारों और शिकारों में बदलते हुए विकराल राजनीतिक काण्ड - देश-विभाजन की एक अभिव्यक्ति है, अतः इस मलबे की अर्थ-प्रक्रिया को और भी दूर तक ले जाया जा सकता है।

अर्थ की अगली परत में वह बिम्ब ध्वंस और उसके भीतर से फिर उठे खड़े होते जीवन के दृश्य को दोहरा रहा है। मलबे के बिम्ब में ध्वस्त घर के जले हुए दरवाजे की चौखट अभी बाकी है। मलबे के ढेर में से अचानक बाहर आ गिरा केंचुआ, पास से बहता नाली का पानी और उसके भीतर छिपे कीड़ों मकोड़ों की आवाज़- जीवन एक प्रवेशद्वार के साथ तरह तरह से वहाँ सरसरा रहा है। बार बार वह अपने मलबे में से स्वयं उठ खड़ा होता है।

केंचुए के बिम्ब को भी कहानी अपनी अर्थप्रक्रिया में बहुत दूर तक ले जाती है। घर की चौखट पर रोते हुए गनी मियाँ के साथ एक समानान्तर दृश्य की तरह केंचुआ आ गिरता है। एक कमजोर और मार खाए आदमी के समकक्ष उसकी हरकतें मानो उस आदमी का ही विवरण बन जाती है- 'वह छिपने के लिये सूराख ढूँढता हुआ जरा सा सिर उठाता पर कोई जगह न पाकर दो एक बार सिर पटकने के बाद दूसरी तरफ मुड़ जाता' लेकिन

चूँकि वे हरकतें उस आदमी की नहीं हैं, वातावरण में से उठा लिये गये एक बिम्ब में घटित हो रही हैं इसलिये कथ्य से एक फासला बना कर, भावुकता के अतिरेक से बच कर व्यंजित होती हैं। इस लाचार, कच्चे और कमजोर आदमी की मर्मान्तक पीड़ा के सामने रक्खा पहलवान अपने सारे आतंक, रोब आर दबदबे के बावजूद ऐसा महसूस करता है कि उसकी रीढ़ की हड्डी को सहारा चाहिये। कहानी में अब तक रक्खा पहलवान स्वयं मानवीयता का ध्वंस, एक मलबा है लेकिन इस क्षण उस मलबे के भीतर जगते जीवन के समान ही उसमें शर्म और अपराधबोध बन कर मानवीयता सरसराने लगी है। इन सारी अर्थछवियों के साथ कहानी का शीर्षक न केवल उसकी प्रमुख घटना बल्कि सार्थकता के अन्य अनेक आयामों को भी अपने भीतर समेट कर विशेष रूप से व्यंजक बन पड़ा है।

इस व्यंजना के सन्दर्भ में कहानी में परिवेश भी एक पात्र के समान सजीव और सार्थक भूमिका निभाता दिखाई देता है। आरंभ परिवेश से होता है, अंत भी परिवेश से होता है और बीच बीच में भी परिवेश अपनी उपस्थिति दर्ज कराता चलता है। परिवेश पर फोकस करते हुए कहानी को पढ़ा जाय तो आभास होता है कि दरअसल परिवेश के फैलाव से उठकर कहानी बीच बीच में चरित्रों पर एकाग्र होती है और फिर परिवेश में फैल जाती है, यह दर्ज करती हुई कि यह केवल कुछ विशेष व्यक्तियों की नहीं बल्कि व्यापक सत्यों की कहानी है जो कुछ व्यक्तियों के माध्यम से उकेरी जा रही है। इन दोनो व्यक्तियों का सारा आदान-प्रदान और क्रिया-व्यापार परिवेश से घिरा रहता है, कभी गली मुहल्ले के मानवीय परिवेश से तो कभी प्राकृतिक परिवेश से।

मलबा आखिर किसकी मिल्कियत है? कहानी अपनी व्यंजना में फिर परिवेश में, मलबे के बिम्ब के पास लौटती है। सबके जाने के बाद पहलवान मलबे की चौखट पर बैठा है। शाम का अँधेरा, सुनसान गली, मलबे के नीचे से बहता हुआ नाली का पानी, कीड़े मकोड़ों कि आवाजें, चौखट पर आ बैठे भटके हुए कौए से छितराए हुए लकड़ी के रेशे, भौंकते हुए कुत्ते से सहम कर उड़ भागा कौआ। पहलवान कुत्ते की तरफ ढेला फेंकता है लेकिन कुत्ते का भौंकना बन्द नहीं होता। पहलवान को ही जगह खाली करनी पड़ती है। काफी देर तक भौंकने के बाद कुत्ता कान झटक कर मलबे पर लौट आता है और कोने में बैठ कर गुर्राने लगता है। पहलवान को अपदस्थ और मलबे को जीवन की प्रक्रिया के हवाले कर कहानी यहीं खत्म होती है। यह एक नैतिक निर्णय है।

काव्यात्मक संवेदना, नाटकीय विधान और बिम्बधर्मी भाषा का प्रतीकात्मक व्यवहार कहानी को अनुभव की प्रामाणिकता और ऐन्द्रिय-संवेद्यता प्रदान करते हैं।

8.5 सारांश

मोहन राकेश नयी कहानी के एक महत्वपूर्ण कथाकार होने के अलावा उसके सिद्धान्तकार तथा उसे आन्दोलन में बदलने वाली तिकड़ी के सदस्य भी हैं। उनकी कहानियों के सम्मिलित आकलन से नयी कहानी आन्दोलन के रचनात्मक सरोकारों का जायजा लिया जा सकता है। वे मध्यवर्गीय जीवन तथा शहरी संवेदना के प्रतिनिधि रचनाकार है। आजादी के तुरन्त बाद वाले दशक की युवा-रचनाकार-मानसिकता का प्रतिनिधित्व करने वाले लेखकों में उनका नाम अग्रणी है। इस पीढ़ी ने मृत मूल्यों और जड़ मर्यादाओं को चुनौती देने और बने बनाए सत्यों को अनुभव की प्रामाणिकता से जाँचने का बीड़ा उठाया था। उसमें बहुत कुछ जरूरी तौर पर ध्वंसात्मक था। बदले हुए परिवेश में असुरक्षित मध्यवर्ग के युवा की कुण्ठाएँ और लक्ष्यहीनता, सम्बन्धों के बदले हुए समीकरण-विशेषकर स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, तथा आंशिक रूप से अन्य राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ उनकी कहानियों में उभर कर सामने आई है।

साहित्य में अनुभव की प्रामाणिकता की अवधारणा को लेकर एक अस्पष्टता व्याप्त रही है इसलिये नयी कहानी के आकलन में भाववाद और अनुभववाद के बीच एक घालमेल चलता रहा है। लीक से हटकर चलने वाले रचनाकार के लिये अनुभव की प्रामाणिकता जान-जोखिम जैसा मामला है क्योंकि उसके कथ्य के सत्यापन का सारा दारोमदार उसी पर है। मोहन राकेश की कहानियाँ इस प्रामाणिकता का उदाहरण कही जा सकती है।

'मलबे का मालिक' मोहन राकेश की एक विशिष्ट कहानी है। विभाजन की त्रासदी के मानवीय आयामों को उकेरती हुई वह एक राजनीतिक विषयवस्तु के सामाजिक पक्ष को व्यक्तिपरक अभिव्यक्ति में पकड़ती है।

'मलबे का मालिक' मोहन राकेश के रचना-कौशल का प्रतिनिधि उदाहरण है। इसके सहारे भावुकता और संवेदनशीलता का अन्तर, अनुभव की प्रामाणिकता का अर्थ, उसे अर्जित करने में भाषा की भूमिका को समझा जा सकता है।

8.6 अभ्यास

1. 'नई कहानी' आंदोलन में मोहन राकेश के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
2. 'मलबे का मालिक' कहानी की विषयवस्तु पर प्रकाश डालिए।
3. 'मलबे का मालिक' कहानी में अभिव्यंजित विभाजन की त्रासदी के संदर्भों को रेखांकित कीजिए।
4. 'मलबे का मालिक' कहानी मोहन राकेश के रचना-कौशल का प्रतिनिधि उदाहरण है। तर्कसम्मत व्याख्या कीजिए।
5. 'मलबे का मालिक' कहानी के चरित्रों पर प्रकाश डालिए।

8.7 खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

नयी कहानी : पुनर्विचार, मधुरेश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

हिन्दी कहानी का विकास, मधुरेश, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद।

हिन्दी कहानी : समीक्षा और सन्दर्भ, डॉ. विवेकी राय, राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद।

प्रतिनिधि कहानियाँ : शानी, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली।

कहानी: नयी कहानी, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति, संपादक - देवी शंकर अवस्थी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

एक दुनिया समानान्तर, सं0 राजेन्द्र यादव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली।

नयी कहानी की भूमिका, कमलेश्वर।

हिन्दी कहानी का विकास, मधुरेश - नयी कहानी, 170 आलोपी बाग, इलाहाबाद।

'कथा' पत्रिका का 'मार्कण्डेय स्मृति अंक' - अंक 15, मार्च 2011

'कथादेश पत्रिका का मन्नू भण्डारी पर केन्द्रित अंक-11 जनवरी-2009

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY